

जैन विद्या के विविध आयाम

डॉ. वीरसागर जैन

i.dk'kd

अनुक्रम

ikDdFku	i
exykpj.k § देव-सत्थ-गुरु-वंदणा	1

जैनधर्म

1. अत्यन्त सरल है जैनधर्म	3
2. धर्मात्मा ही कुशल है	9
3. भक्ति की शक्ति	12
4. वर्तमान को वर्द्धमान की आवश्यकता है	16
5. परिवार के सदस्यों को भी धर्म के मार्ग में लगाओ	18

जैनदर्शन

1. दर्शनशास्त्र हम क्यों पढ़ें?	20
2. अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता	21
3. जैनदर्शन की वैज्ञानिकता	26
4. जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान की तुलना	29
5. जैनदर्शन और वाल्ट् व्हिटमैन	32
6. 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्'	36
7. जैनदर्शन में ज्ञानमीमांसा	40
8. जैनदर्शन में चेतना एक, नाम अनेक	43
9. अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी : एक संक्षिप्त विवेचन	45
11. स्याद्वाद : निष्पक्ष विद्वानों की दृष्टि में	48
11. जैन विद्या के छात्रों को निर्देश	55
12. दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः	59

जैन अध्यात्म

1. समयसारस्वरूपोऽहम्	68
2. आचार्य कुन्दकुन्द का दार्शनिक वैशिष्ट्य	71
3. स्वसमय और परसमय	76
4. प्रतिक्रमणादि : विषकुंभ या अमृतकुंभ?	81

5. तम्हा सत्थं समधिदव्व	83
6. दुनिया के 'दस' आश्चर्य	87
7. यह जगत् एक खुली किताब है	92
8. ज्ञान और विवेक	96
9. भय और अभय के स्थान	98
10. विवेकी बन्दर	100
11. ज्ञान और आनन्द के महत्त्व को रेखांकित करती है दीपावली	101
12. 'समयसार' में परिग्रह-अपरिग्रह की अवधारणा	103

जैन न्याय

1. जैन न्याय का प्राथमिक परिचय	105
2. जैनदर्शन में 'संशय' का स्वरूप	111

जैन आचार

1. क्रोध से बचने के अनेक उपाय	117
2. सामायिक भावना	120
3. पाँच समितियों का व्यापक अर्थ : श्रावकों की अपेक्षा से	126
4. जैनाचार्यों का सामाजिक चिन्तन	131
5. बहुत सूक्ष्म है भगवान महावीर की अहिंसा	137
6. क्षमावाणी : एक अनूठा चिन्तन	139

जैन साहित्य

1. जैन साहित्य का महत्त्व	140
2. सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन	144
3. 'अशुद्धं पुस्तकं शत्रुः'	151
4. शास्त्रों के श्रोता को भी विद्वान् होना चाहिए	154
5. जैनाचार्यों का गणित-विज्ञान	158
6. प्रणव-स्तुति	161
7. 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की सबसे बड़ी विशेषता	164
8. 'छहढाला' में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी	172
9. जैन अर्थशास्त्र	174
10. तीर्थंकर नेमिनाथ और नारायण श्रीकृष्ण	177
11. गोम्मटसार छन्दोदय	179
12. 'कषायपाहुड' का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य	182
13. जयधवला : एक दृष्टि में	187
14. जयधवला की विषयवस्तु	189

प्राकृत भाषा

1. पं. दौलतराम कासलीवाल का प्राकृतभाषा के प्रति अनुराग 191
2. खारवेल-शिलालेख में निहित दार्शनिक तत्त्व 195
3. प्राकृत भाषा में लोरी 198
4. आरदी बाहुबली सामिणो 199
5. बाहुबलि-त्थोत्तं 201

मंगलाचरण

देव-सत्थ-गुरु-वंदणा

सिद्ध-वंदणा

जे सब्बकम्मरहिदा णिच्चं णाणादिभावपरिपुण्णा ।

सुद्धा सिद्धा सब्बे णमामि तेसिं तियोगेण ॥ 1 ॥

जो सर्वकर्मों से रहित हैं, सदैव ज्ञानादिभावों से परिपूर्ण हैं और पूर्णतया शुद्ध एवं सिद्ध हैं, उनको मैं मन-वचन-काय से प्रणाम करता हूँ।

अरिहंत-वंदणा

जो रायादि ण कुणदि लोए वणितादि-इट्ठ-विसएसु ।

जो दोसं पि ण किंचिवि सत्तू-सीहादि-णिट्ठ-विसएसु ॥ 2 ॥

जो सयलं जाणादि जीवमजीवं य धम्मधम्मं य ।

आयासं कालं पि य उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ॥ 3 ॥

जो हिदकरमुवाएसं करेदि दुक्खेहिं तत्तजीवाणं ।

तं वीयरायदेवं णमामि सब्बण्हू सयलहिदकारं ॥ 4 ॥

जो स्त्री आदि मनोहर पदार्थों में कभी राग नहीं करते और शत्रु-सिंहादि अनिष्ट पदार्थों में द्वेष नहीं करते; जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल—इन सर्व षट्विध द्रव्यों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त जानते हैं और जो संसार-दुःख से तप्त जीवों को कल्याणकारी उपदेश देते हैं; उन वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी अरिहंत देव को मैं नमस्कार करता हूँ।

सत्थ-वंदणा

जं जिणवयणं एककं पोसइ सब्बत्थ वीयरायत्तं ।

जेण वि केणवि भावे पोसइ ण कदावि रायादिं ॥ 5 ॥

सियलंछणं खु होदि सब्बाणं जिणवरिद-वयणाणं ।

णत्थि विरोहो किंचि वि पुब्बापरकहिद-सब्बवयणेसु ॥ 6 ॥

जेसु जिणवयणेसु रमंति भव्वा पफुल्लभावेण ।

लेति अदिदियसुक्खं अत्ताधीणं सयलदुक्खहरं ॥ 7 ॥

ताडं जिणवयणाडं णमामि पूजामि पइदिणं भावें ।

करेंतु ते मम कज्जं णिव्वाणपदं पदाणित्ता ॥ 8 ॥

जो जिनवचन सर्वत्र एक वीतरागता का ही पोषण करते हैं, कभी भी किसी भी प्रकार रागादि भावों का पोषण नहीं करते हैं; 'स्यात्' पद से चिह्नित हैं, जिनमें किंचित् भी पूर्वापर-विरोध नहीं पाया जाता है, जिनमें भव्यजीव अत्यन्त प्रफुल्लित भाव से रमण करते हैं और फिर सकल दुःखहर, आत्माधीन, अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करते हैं, उन जिनवचनों को मैं प्रतिदिन भावपूर्वक प्रणाम करता हूँ, उनकी पूजा करता हूँ। वे मुझे निर्वाण प्रदान कर मेरा कार्य सिद्ध करें।

गुरु-वंदना

जे आयरिय-उवझाया साहू णिच्चं पि मोक्खमग्गट्ठा ।

भवतणभोगविरत्ता ज्ञाणज्झयणे सदा णिरदा ॥ 9 ॥

सव्वागमस्स सारो अत्ता इदि अत्तभावणा सहिदा ।

ताहं पि य पणमामि तेसिं गुणलद्धिकामेण ॥ 10 ॥

जो सदा मोक्षमार्ग में स्थित हैं, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हैं, ध्यान एवं अध्ययन में ही लीन हैं और 'सम्पूर्ण आगम का सार एक आत्मा ही है'— ऐसा जानकर सदा आत्मभावना-सहित हैं; उन आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को भी मैं उनके गुणों को प्राप्त करने की कामना से प्रणाम करता हूँ। ❖❖

अत्यन्त सरल है जैनधर्म

बहुत-से लोग कहते हैं कि जैनधर्म एक बड़ा ही कठिन धर्म है, उसके लिए अमुक-अमुक प्रकार से बड़ी कठिन साधना करनी पड़ती है, बहुत भारी ज्ञान-चारित्र्यादि का गहन अभ्यास करना पड़ता है। कितने ही तो जैनधर्म के विद्वान् होकर भी ऐसा कहते देखे जाते हैं कि जैनधर्म को समझना और पालना कोई आसान कार्य नहीं है, उसके लिए बहुत अधिक समय देना पड़ता है, अनेक ग्रन्थों का बहुत गहरा अभ्यास करना होता है, अमुक-अमुक विषयों की बड़ी गूढ़-गम्भीर चर्चा समझनी पड़ती है, इत्यादि-इत्यादि। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार से लोग जैनधर्म को बड़ा ही कठिन धर्म प्ररूपित करते हैं।

परन्तु यदि जैन-ग्रन्थों का ही सिंहावलोकन किया जाए तो वस्तुस्थिति बिल्कुल ऐसी नहीं प्रतीत होती। वहाँ तो जैनधर्म को समझना और पालना— दोनों ही अत्यन्त सरल बताया गया है। जरा देखिए, जो सम्यग्दर्शन अत्यन्त महिमावंत है, मोक्षमार्ग का मूलाधार है, अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है, बड़े-बड़े पंडितों को भी नहीं हो पाता है, वह सम्यग्दर्शन चारों ही गतियों में सभी संज्ञी जीवों को किसी भी साधारण निमित्त से सहज ही प्राप्त हो जाता है। जैसा कि कविवर पं. बनारसीदास जी ने भी स्पष्ट लिखा है—

‘चहुँ गति सैनी जीवको, सम्यक् दर्शन होइ।’

—(समयसार नाटक, 28)

विचारणीय है कि पशु, पक्षी आदि तिर्यच, भील, चोर, किसान आदि मनुष्य, अत्यन्त प्रतिकूलता में रहनेवाले नारकी और अत्यन्त अनुकूलता में रहनेवाले सभी प्रकार के देव— ये सभी जिस सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं, वह कठिन कैसे हो सकता है? वह तो अत्यन्त सरल ही हुआ न!

और देखिए, शास्त्रों में कैसे-कैसे प्रसंग घटित भी हुए हैं—

1. एक अंजन नाम का चोर था। उसे भेदविज्ञान हो गया और आगे चलकर वह मुनि-दीक्षा धारण कर कैलास पर्वत से मोक्ष भी चला गया। यथा—

‘अंजन चोर को आणं ताणं शेठी वाक्य प्रमाणं से भेदविज्ञान हुआ और मोक्ष

भी कैलास पर्वत से गया।’

‘ततश्चारणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलासे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः।’

—(आचार्य प्रभाचन्द्र टीका, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 1/19)

तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास दीक्षा लेकर उसने कैलास पर्वत पर तप किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

2. एक शिवभूति नामक सेठ था। बहुत कोशिश करने पर भी वह जीवादि सात प्रयोजनभूत तत्त्वों का नाम तक कंठस्थ नहीं कर सका था और मात्र ‘तुष माष भिन्नं’ ही रटने लगा था, किन्तु उसे इसी के द्वारा शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान हो गया और आगे चलकर वह वीतराग-सर्वज्ञ भी बन गया—

‘‘शिवभूति मुनि जीवादिकका नाम न जानै था, अर तुषमाषभिन्न ऐसा घोषने लगा तो यह सिद्धान्तका शब्द था नाहीं, परन्तु आपा परका भावरूप ध्यान किया, तातै केवली भया।’’

—(पं. टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, 7/330)

इसी प्रकार के और भी सैकड़ों नहीं, हजारों प्रसंग शास्त्रों में से बताये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैनधर्म कठिन नहीं है, अपितु अत्यन्त सरल है।

फिर भी यदि हमें यह अत्यन्त कठिन लगता है तो समझना चाहिए कि कहीं-न-कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। और वह गड़बड़ भी हमारे ही अन्दर होनी चाहिए। अन्यथा ऐसा कैसे हो सकता था कि इतने साधारण-से जीवों को तो भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्ग यहाँ तक कि मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाए और हमें निमित्त-उपादान, द्रव्य-गुण-पर्यायादि की सूक्ष्म-सूक्ष्म चर्चाएँ करते अथवा ढेर सारा व्रत-तपादि चारित्र पालते हुए पच्चीसों-पचासों वर्ष बीत गये और अभी तक कुछ नहीं हुआ। जरूर कहीं-न-कहीं कुछ बड़ी विकृति हमारे अन्दर अवश्य है। किसी ने सच ही कहा लगता है कि बड़े-बड़े पंडित उलझे रहते हैं और विशुद्ध भाव वाला साधारण जीव भी संसार से तिर जाता है।

यद्यपि यह बात एकदम सत्य है कि मोक्ष एवं मोक्षमार्ग की प्राप्ति भेदविज्ञान से ही होती है, उसके बिना कथमपि नहीं हो सकती—

‘भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।’

—(आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश, 131)

जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं।

तथापि वह भेदविज्ञान भी कोई हौआ नहीं है। वह तो मुनिराज से उपदेश सुने बिना ही, मात्र उनके दर्शन से ही भव्य जीवों को उत्पन्न हो सकता है। राजा श्रेणिक आदि अनेकानेक जीवों को उत्पन्न हुआ ही है। ‘सर्वार्थसिद्धि’ में भी लिखा

है कि मुनिराज बिना बोले ही, अपनी मुद्रा से ही मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं—

‘मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम् ।’

—(आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय, प्रथम अनुच्छेद)

इतना ही नहीं, अचेतन पाषाणमयी कृत्रिम जिनप्रतिमा के दर्शन मात्र से भी भेदविज्ञान की प्राप्ति होने की बात कही गई है—

‘eè;ykdfo% fof/kiød Ñf=e ftufcc fojkt| g ftufd n'kukfndr|
Lo-ij-Hkn-foKku gk; g] d"kk; en gk; 'WUrHko gk; gA’

—(पं. टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 8)

विचारणीय है कि इससे सरल स्थिति और क्या हो सकती है? अरे भई, भेदविज्ञान करने में कोई पहाड़ थोड़े ही उठाने हैं, मात्र जीव और अजीव की भिन्नता ही तो पहचाननी है। यथा—

“जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।

यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥”

—(आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 50)

हिन्दी-पद्यानुवाद—

“जीव जुदा, पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार ।

अन्य कुछ व्याख्यान जो, याही का विस्तर ॥”

दरअसल, जैनधर्म या भेदविज्ञान कठिन नहीं है, उसे कठिन हमने बना दिया है। यदि परिणामों में भ्रष्टता हो, सरलता हो, काललब्धि आ गई हो तो सारा मोक्षमार्ग सरल ही है और यदि परिणामों में वक्रता हो, कुटिलता हो, अभी दीर्घ संसार बाकी हो तो सारा मोक्षमार्ग कठिन ही है।

मात्र भेदविज्ञान और सम्यग्दर्शन ही नहीं, आगे का सारा मोक्षमार्ग भी सरल ही है, तभी तो बादल, बिजली, सफेद बाल आदि जरा-सा कुछ भी देखकर ही अनगिनत जीवों को वैराग्य हो गया था, उन्होंने मुनि-दीक्षा अंगीकार कर ली थी।

जैनधर्म को कठिन कहनेवालों ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार को भी बड़ा भारी नुकसान पहुँचाया है, जबकि पूर्ववर्ती समस्त जैनाचार्यों ने कहीं भी उसे कठिन रूप में प्रस्तुत नहीं किया। संयम-तप-त्याग की बात को भी उन्होंने सर्वत्र ‘यथाशक्ति’ या ‘शक्तितः’ शब्द लगाकर ही समझाया है— शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, इत्यादि। सभी जैनाचार्यों ने एक स्वर से यह उद्घोष किया है कि—

“जं सक्कदि तं किज्जदि जं च ण सक्कदि तहेव सद्दहणं ।

सद्दहमाणो जीवो पावदि अजरामरं ठाणं ॥”

—(आचार्य कुन्दकुन्द, दर्शनपाहुड, 22)

वफा— जितना शक्य हो उतना करो और यदि शक्य न हो तो उसकी श्रद्धा अवश्य करो। श्रद्धावान् जीव अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेता है।

इस गाथा का हिन्दी-पद्यानुवाद कविवर दानतरायजी ने इसप्रकार किया है—

“कीजे शक्ति प्रमान, शक्ति बिना सरधा धरै।
दानत सरधावान, अजर-अमर पद भोगवै ॥”

—(देव-शास्त्र-गुरु-पूजा, जयमाला)

विचारणीय है कि इसमें कठिन क्या है? हमसे जितना पाप छूटे उतना ही छोड़ना है और शेष की ‘यह पाप है’— ऐसी सच्ची श्रद्धा करनी है बस! इसमें कठिनाई क्या है?

किसी भी व्यक्ति को ‘जैन’ होने के लिए मात्र श्रद्धा ही तो समीचीन करनी है, और अन्य क्या करना है? ‘श्रावक’ होने के लिए भी मात्र इतनी-सी ही शर्त बताई गई है कि एक तो अरिहंत देव में अटल श्रद्धा होना चाहिए और दूसरा मात्र शाकाहारी जीवन होना चाहिए—

“हृदय में तो एक अटल हो, श्रद्धा श्री अरिहंत की।
दूजा शाकाहार रखो, बस यह परिभाषा ‘जैन’ की ॥”

‘जैन’ होने के लिए दुनिया भर के लौकिक क्रिया-कलापों के त्याग की या उन पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध लगाने की भी जैन आचार्यों ने कोई शर्त नहीं बतायी है। बस इतना कहा है कि—

“सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न चापि व्रतदूषणम् ॥”

—(सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8/34)

जैनों को वह समस्त ही लोकव्यवहार (लोकाचार) मान्य है, जिससे सम्यक्त्व की हानि नहीं हो और व्रतों को भी दोष नहीं लगे।

दरअसल, जैनाचार्य बड़े ही उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण वाले थे। वे जानते थे कि क्षेत्र-काल के अनुसार लोकाचार में बहुत सारे परिवर्तन आते ही हैं, सभी क्षेत्र-कालों में हमारा बाहरी क्रिया-कलाप एक-सा नहीं हो सकता। अतः उन्होंने उस सबका कोई हठाग्रह प्रस्तुत नहीं किया और इसलिए हमें भी उस सब पर कोई हठाग्रह नहीं रखना चाहिए तथा और भी इधर-उधर की फालतू बातें छोड़कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप मूलभूत मोक्षमार्ग की साधना पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म तो अत्यन्त सरल है, आवश्यकता सिर्फ हमें स्वयं को सरल बनाने की है। यदि हम स्वयं को सरल बनाकर जैनधर्म को

समझेंगे और पालेंगे तो वह सरलतापूर्वक ही हमारे जीवन में सहज प्रकट हो जाएगा, कहीं कोई बाधा नहीं होगी।

जैनधर्म को कठिन बताने के कारण ही आज विश्वव्यापी जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या अत्यन्त अल्प रह गयी है, अतः आज के समय की यह सख्त आवश्यकता है कि हम जैनधर्म को अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत करें। समस्त आडम्बरों से दूर, विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक तथा एकदम वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक जैनधर्म से सरल धर्म भला अन्य कौन-सा होगा?

ii'u& आपने यहाँ अनेक प्रकार से जैनधर्म और उसके अनुपालन को अत्यन्त सरल कहा किन्तु बोधिदुर्लभ भावना में तो बारम्बार इस बात का चिन्तन किया जाता है कि यह अत्यन्त दुर्लभ है?

mUkj& अधिकांश जीव गलत साधनों से उसे प्राप्त करना चाहते हैं, अतः वहाँ दुर्लभ कहा है। यदि समुचित साधनों से प्राप्त करना चाहें तो अत्यन्त सरल ही है। जैसा कि बोधि दुर्लभ भावना में ही पं. जयचंद जी छाबड़ा ने स्पष्ट कहा है— ‘बोधि अपना भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहि।’ यही आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी कहा है— “पदमिदं ननु कर्मदुरासदं, सहजबोधकला सुलभं किल।”

—(आत्मख्याति, कलश, 143)

जिसप्रकार बिना चाबी के या गलत चाबी के ही कोई ताला खोलना चाहे तो वह अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि सही चाबी लगाकर खोला जाए तो अत्यन्त सरल ही है, उसीप्रकार बाह्य कर्मकांड के द्वारा कोई आत्मज्ञान या आत्मध्यान का उत्कृष्ट पद प्राप्त करना चाहे तो उसे अत्यन्त दुर्लभ कहा है, परन्तु यदि कोई सहज ज्ञान कला के द्वारा प्राप्त करना चाहे तो अत्यन्त सुलभ ही है।

इस श्लोक का कविवर पं. बनारसीदासजी द्वारा किया हुआ हिन्दी-पद्यानुवाद भी अत्यन्त सारगर्भित है—

“बहुविध क्रिया कलेस सौं, शिवपद लहै न कोय।

ज्ञान कला परकास तैं, सहज मोखपद होय॥”

—(समयसार नाटक)

दरअसल, हमने ही इसे अन्यथा समझकर, समझाकर या यों ही केवल कह-कहकर ऐसा कठिन बना दिया है, जैसाकि इस बुन्देलखण्डी कहावत में हुआ है—

“सत्तू, मन मत्तू, कब घोरें? कब खाएं?

धान! चट कूटी, पट खाई॥”

अन्यथा धर्म बड़ा सरल है, क्योंकि उसके लिए कठिन कुछ करना ही नहीं है। साधक को मात्र अपनी दृष्टि बदलनी है, सृष्टि नहीं। अथवा मात्र अपनी मनःस्थिति

बदलनी है, परिस्थिति नहीं। कठिन तो तब होता जब बाहर की सृष्टि या परिस्थिति को बदलना होता। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं करना है। सब-कुछ अपने मन में ही करना है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में भी कहा है—

“जलेन जनितः पंकः जलेन परिशुद्ध्यति ।
चित्तेन जनितं कर्म चित्तेन परिशुद्ध्यति ॥”

जिसप्रकार जल से ही कीचड़ उत्पन्न होता है और जल से ही वह शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार मन से ही विकार उत्पन्न होता है और मन से ही वह शुद्ध भी हो जाता है।

इसीप्रकार आचार्यों का एक और भी कथन गंभीरतापूर्वक ध्यातव्य है—

“जेहउ मणु विसयहँ रमइ, तिमु जइ अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ ॥”

—योगसार 50

हिन्दी-पद्यानुवाद— “ज्यों मन विषयों में रमे, त्यों हो आतमलीन ।
शीघ्र लहे निर्वाण पद, योगीजन कह दीन ॥”

संसार के सभी कार्य जो हमको अनादिकालीन अभ्यासवश सरल लग रहे हैं वे वास्तव में अत्यन्त कठिन हैं— पराधीन होने से। किन्तु आत्मानुभूति अत्यन्त सरल है— स्वाधीन होने से। देखो आश्चर्य कि एक कप चाय बनाना और पीना तो अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु इसे सरल लगता है और आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण अत्यन्त सरल कार्य है परन्तु इसे बड़ा कठिन लगता है। यह अज्ञान की महिमा है। अन्यथा तो कार्य इतना सरल है कि—

“तसवीर-ए-खुदा आइने में है।
जब चाही, गर्दन झुकाई, देख ली ॥”

अरे, गर्दन झुकाने की बात भी मिथ्या है, कठिन है; आत्मधर्म के लिए तो गर्दन झुकाने की भी जरूरत नहीं पड़ती।



1. “बोधि अपना भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहि।”
2. “अरिहंत सहज है होना।”
3. “सबसे सरल है निजपद पाना।”
4. “हाथी की पीठ पर फूल ले जाने जितना सरल है आत्मधर्म।”
5. “सहज सरल जीवन की पोथी, बड़ा कठिन अनुवाद हो गया।
पद-पद के लघु विश्रामों पर, कैसा घोर विवाद हो गया।।”

धर्मात्मा ही कुशल है

प्रायः हम सभी, जब अपने किसी मित्रादि को पत्र लिखते हैं तो उसका प्रारम्भ इसप्रकार करते हैं कि मैं यहाँ कुशल हूँ और आशा है कि आप भी वहाँ कुशलतापूर्वक होंगे.....¹

परन्तु क्या कभी हमने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है कि ‘कुशलता’ किसे कहते हैं? ‘कुशल’ कौन होता है? ‘कुशल’ शब्द का अर्थ क्या है? क्या हम आज अपनी इस वर्तमान स्थिति में वास्तव में ‘कुशल’ हैं?

यदि नहीं तो आइये, महाकवि भूधरदास के एक निम्नलिखित सवैया के माध्यम से इन बातों को भलीभाँति समझने का प्रयत्न करें।

महाकवि भूधरदास आज से लगभग 300 वर्ष पूर्व आगरा के शाहगंज क्षेत्र में निवास करते थे। वे दान-पूजादि धार्मिक क्रियाओं में तो लीन रहते ही थे, अध्यात्म के भी उच्चकोटि के विद्वान् थे।² उन्होंने पार्श्वपुराण, जैनशतक और अनेक भजनों की रचना की थी। प्रतीत होता है कि उन्होंने भी कभी अपने किसी मित्र को पत्र लिखा होगा और उसका प्रारम्भ भी कुछ इसी प्रकार किया होगा कि मैं यहाँ कुशल हूँ और आशा है कि आप भी....परन्तु ऐसा लिखते ही उनके मस्तिष्क में प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि अरे, यह मैं क्या लिख रहा हूँ कि मैं कुशल हूँ? किसे कहते हैं कुशल? क्या मैं वास्तव में कुशल हूँ? और वे इन्हीं प्रश्नों पर चिंतन करते-करते अध्यात्म-सागर की अतल गहराइयों में उतर गये। अन्त में, वे वहाँ से जो अनमोल रत्न निकाल कर लाये उसे उन्होंने तराश कर हमारे लिए इसप्रकार प्रस्तुत किया है—

“जोड़ दिन कटै सोइ आयु मैं अवसि घटै,
बूँद-बूँद बीतै जैसें अंजुलि कौ जल है।
देह नित झीन होत नैन तेज हीन होत,
जोबन मलीन होत, छीन होत बल है ॥

¹ “इहाँ कुशल सब भाँति सुहाई। उहाँ कुशल राखै रघुराई।।” —तुलसीदास

² “भूधरमल जिनधर्मी ठीक। रहै स्याहगंज में तहकीक।
जिन सुमिरन पूजा परवीन। दिन प्रति करै असुभ कौ छीन।।”

—पं. दौलतराम कासलीवाल, पुण्यास्रवकथाकोश, भाषा, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 15

आवै जरा नेरी, तकै अंतक-अहेरी आवै,
परभौ नजीक जात नर भौ निफल है ।
मिलकै मिलापीजन पूछत कुशल मेरी,
ऐसी दशा मांहि मित्र काहे की कुशल है ॥”

—जैन शतक, छंद 37

वfk— हे मित्र! मुझसे मेरे मिलने-जुलने वाले मेरी कुशलता के बारे में पूछते हैं, परन्तु तुम्हीं बताओ, कुशलता है कहाँ? दशा तो ऐसी हो रही है—

जिस प्रकार अंजुलि का जल जैसे-जैसे उसमें से बूँद गिरती जाती है, वैसे-वैसे ही यह आयु भी निश्चित रूप से घटती जा रही है, दिनों-दिन शरीर दुर्बल होता जा रहा है, आँखों की रोशनी कम होती जा रही है, युवावस्था बिगड़ती जा रही है, शक्ति क्षीण होती जा रही है, वृद्धावस्था पास आती जा रहा है, मृत्युरूपी शिकार इधर देखने लग गया है, परभव पास आता जा रही है और मनुष्यभव व्यर्थ ही बीतता जा रहा है।

महाकवि भूधरदास के उक्त सवैया का मूल अभिप्राय यही है कि बाह्य शरीरादि संयोगों में कुशलता नहीं है, क्योंकि वे तो बाह्य क्षणभंगुरस्वभावी पदार्थ हैं। जो जीव उनमें कुशलता मानता है वह बहिरात्मा है। अन्तरात्मा तो अपने को इन देहादि बाह्य पदार्थों से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावी मानता है और इसलिए सतत धर्मध्यान— आत्मध्यान में ही रहने का प्रयत्न करता है, अतः परमार्थ से जो धर्मात्मा है वही कुशल है।

‘कुशलता’ शरीरादि बाह्य संयोगों की अनुकूलता का नाम नहीं है— इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि प्राचीन परम्परा से अब तक दर्शनार्थी श्रावक साधुओं से कभी भी इनकी कुशलता नहीं पूछते हैं, कभी कोई किसी मुनिराज से यह नहीं पूछता कि आपकी तबीयत वगैरह कैसी है, अपितु यही पूछता है कि आपके रत्नत्रय की कुशलता कैसी है, आपके परिणामों की विशुद्धि कैसी है। साधु से सांसारिक संयोगों की बात करना घोर पाप का कारण माना जाता है।

संस्कृत के महाकवि कालिदास ने भी अपने सुप्रसिद्ध नाटक ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ में भी इस बात को लिखा है कि साधुओं से कुशलता मात्र इसीप्रकार पूछना चाहिये कि क्या आपका तप वृद्धिगंत हो रहा है—

“अपि तपो वर्धते?”

—शाकुन्तलम्, प्रथम अंक, पृष्ठ 47

इसके अतिरिक्त ‘मनुस्मृति’ का यह निम्नलिखित श्लोक भी विशेष ध्यान देने योग्य है, जिसमें कहा गया है कि कुशलता ब्राह्मण से पूछना चाहिये—

“ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्र बन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेत्रं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥”

—मनुस्मृति, 2/127

इसका अभिप्राय भी यही है कि कुशलता ब्राह्मणत्व की बात है, विद्वत्ता की बात है; बाह्य शरीरादि संयोगों की अनुकूलता का नाम कुशलता नहीं है, अपितु अन्तरंग आत्मपरिणामों की सुन्दर स्थिति का नाम की कुशलता है।

दरअसल, ‘कुशल’ शब्द बड़ा सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ धारण करता है, जिसे बाहरी संयोगों से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने तपशील से युक्त और विषय-विष के त्यागी जीव को कुशल कहा है—

“तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसं व खलं।”

—सीलपाहुड, 24

इसीप्रकार आत्मानुशासन के 7वें और 37वें श्लोक में भी ‘कुशल’ शब्द का प्रयोग धार्मिक (पारमार्थिक) अर्थ में ही हुआ है।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी भी स्पष्ट लिखते हैं—

“जे जिणवयणे कुसला भेयं जाणंति जीवदेहाणं।”

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 194

अर्थात् जो जीव शरीर और आत्मा का भेद जानते हैं वे ही कुशल हैं।

धनंजय महाकवि ने ‘कुशल’ के पर्यायवाची शब्द इसप्रकार गिनाये हैं—

“क्षेमं कल्याणमभयं श्रेयो भद्रं च मंगलम्।
भावुकं भविकं भव्यं कुशलं च शिवं विदुः॥”

—नाममाला, 200

वfk—क्षेम, कल्याण, अभय, श्रेय, भद्र, मंगल, भावुक, भविक, भव्य, कुशल और शिव—ये सब पर्यायवाची हैं।

अंत में, आइये, अब ‘कुशलता’ शब्द का सही अर्थ समझ लेने के बाद हम सभी एक बार पुनः सच्चे मन से अपने आप से पूछें कि क्या हम वास्तव में कुशल हैं? और यदि नहीं तो अपने जीवन में वास्तविक कुशलता प्रकट करने का प्रयत्न करें, परमार्थ से कुशल बनने का उद्यम करें। यदि किसी भाग्यशाली धर्मात्मा के जीवन में ऐसी पारमार्थिक कुशलता प्रकट हो चुकी हो तो वह उस कुशलता को दिन-प्रतिदिन बढ़ाने का प्रयत्न करे।



भक्ति की शक्ति

जिनेन्द्रदेव की भक्ति में बड़ी शक्ति है, क्योंकि वह उभयलोक सुखकारी है, उससे लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सर्व प्रयोजन सिद्ध होते हैं। यद्यपि जिनेन्द्र-भक्ति का उत्तम प्रयोजन पारमार्थिक या आध्यात्मिक लाभ ही है, परन्तु यह भी सत्य है कि उससे केवल पारमार्थिक लाभ ही नहीं होता, अपितु लौकिक लाभ भी अवश्य होता ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है। सभी आचार्यों ने इस बात को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है। आचार्य वीरसेन स्वामी 'धवला' में लिखते हैं—

“विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलंघयन्ति ।
अथान् यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥”

—(धवला, 1/1/1/21)

अर्थात् जिनेन्द्रदेव के परिकीर्तन से सर्व विघ्न नष्ट हो जाते हैं, किसी प्रकार का भय नहीं सताता, दुष्टदेव पीड़ित नहीं करते और सदा यथेष्ट अर्थों की प्राप्ति होती है।

आचार्य विद्यानन्द स्वामी 'आप्तपरीक्षा' में लिखते हैं—

‘श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात् परमेष्ठिनः।’ —(आप्तपरीक्षा, 2)

अर्थात् पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से जो पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है— ऐसे श्रेयोमार्ग की सम्यक् सिद्धि होती है। परनिश्रेयस का अर्थ है मोक्ष और अपरनिश्रेयस का अर्थ है स्वर्ग (लौकिक अभ्युदय)।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ 'मोक्षमार्ग' की बजाय 'श्रेयोमार्ग' शब्द का प्रयोग ही इसलिए किया है कि उसके द्वारा आचार्यदेव जिनेन्द्रभक्ति की उभयलोक-हितकारिता को दिखाना चाहते हैं।

मंगलाचरण के रूप में पढ़े जाने वाले इस प्रसिद्ध श्लोक में भी यही कहा है—

‘ओंकारं बिंदुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं देवमोंकाराय नमो नमः॥’

—(आचार्य दुर्गसिंह, कातंत्र टीका, पृ. 9)

अर्थात् ओंकार के ध्यान से काम और मोक्ष दोनों की सिद्धि होती है।

हिन्दी कवियों ने भी इस बात को सैकड़ों बार कहा है। यथा—

‘भुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराज वर ।’

अथवा—

‘धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण ।’

कविवर दानतरायजी ने ‘दर्शन-दशक’ के प्रथम छन्द में कहा है—

देखे श्रीजिनराज आज सब विघन विलाये,
देखे श्रीजिनराज आज सब मंगल छाये ।
देखे श्रीजिनराज काज कछु करना नांहि ,
देखे श्रीजिनराज होंस पूरी मन मांहि ।
तुम देखे जिनराज अब, भवजल अंजुलि सम भया ।
चिंतामणि पारस कल्पतरु, मोह सबनि सों उठि गया ॥

अर्थात् जिनेन्द्रदेव की भक्ति से सर्वविघ्नों का नाश होता है, और सर्वमंगलों की प्राप्ति होती है। भक्त के सर्वकार्य सम्पन्न हो जाते हैं, उसकी सर्व इच्छा पूर्ण हो जाती है, वह कृतकृत्य हो जाता है, उसे चिंतामणि, पारस, कल्पवृक्ष की भी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि भक्ति से सर्व लाभ प्राप्त होता है, संसार-सागर ही छोटा-सा रह जाता है।

यहाँ कवि ने बड़ी कुशलता से पारमार्थिक और लौकिक दोनों प्रकार के लाभ का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

इसीप्रकार के और भी अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जिनेन्द्रदेव की भक्ति में महान शक्ति है और उससे दोनों प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि होती है।

यही कारण है कि पहले कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार के दुःख से कितना ही अधिक दुःखी होकर मुनिराजों/आचार्यों के पास आता था तो वे उसे वैद्य, वकील, पुलिस आदि के पास न भेजकर केवल एक जिनेन्द्रदेव की भक्ति करने का उपदेश देते थे और उसी से उसके सर्व दुःख दूर हो जाते थे।

कैसे हो जाते थे— यह एक अलग विषय है, क्योंकि जिनेन्द्रदेव तो पूर्ण वीतराग हैं, परन्तु होते अवश्य थे— इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इसके हजारों प्रमाण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। यह एक बहुत बड़ा विज्ञान था जिसे हम आज भूल चुके हैं। आवश्यकता है उसे सावधानीपूर्वक समझने की।

आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही प्रश्न उठाकर इस प्रकार दिया है—

“इहां कोऊ कहै कि इनिकरि ऐसे (वीतराग-विज्ञानरूप) प्रयोजनकी तौ सिद्धि ऐसैं हो है परन्तु जाकरि इंद्रियजनित सुख उपजै दुःख विनशै ऐसे भी प्रयोजनकी सिद्धि इनिकरि हो है कि नाहीं।

ताका समाधान—जो अरहंतादिविषै स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम हो है ताकरि अघातिया कर्मनिकी साता आदि पुण्यप्रकृतिनिका बंध हो है। बहुरि जो वह परिणाम तीव्र होय तौ पूर्वे असाताआदि पापप्रकृति बँधी थीं तिनिकों भी मंद करै है अथवा नष्टकरि पुण्यप्रकृतिरूप परिणमावै है। बहुरि तिस पुण्यका उदय होतैं स्वयमेव इंद्रियसुखकों कारणभूत सामग्री मिलै है। अर पापका उदय दूर होतैं स्वयमेव दुःखकों कारणभूत सामग्री दूर हो है। ऐसैं इस प्रयोजन की भी सिद्धि तिनकरि हो है। अथवा जिनशासनके भक्त देवादिक हैं ते तिस भक्तपुरुषकै अनेक इंद्रिय- सुखकों कारणभूत सामग्रीनिका संयोग करावै हैं, दुःखकों कारणभूत सामग्रीनिकों दूर करै हैं। ऐसैं भी इस प्रयोजनकी सिद्धि तिनि अरहंतादिकनिकरि हो है।”

—(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 10)

इसप्रकार पं. टोडरमलजी ने अरिहन्तादि की भक्ति-स्तुति से लौकिक प्रयोजन की सिद्धि होने के तीन कारण बताए हैं—

1. पुण्य प्रकृतियों का बन्ध-उदय। 2. पूर्वबद्ध पाप प्रकृतियों का पुण्यप्रकृति रूप परिणमन। 3. जिनशासन के भक्त देवादि द्वारा सहायता।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं। जैसे एक कारण कुछ ऐसा भी होता है कि—

जिसप्रकार अधिक मिर्च डल जाने से दाल बहुत तीखी हो जाए, खाई ना जा सके तो अब मिर्च तो उसमें से अलग की नहीं जा सकती है, किन्तु यदि उसमें थोड़ा गुड़ मिला दिया जाए तो वह तीखी लगना बन्द हो जाती है और आसानी से खाने योग्य बन जाती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की भक्तिरूप धर्मध्यान से असह्य दुःख-संकट भी आसानी से सहन करने योग्य बन जाते हैं।

इसी प्रकार के और भी अनेक कारण हो सकते हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से हमारी समझ में नहीं आ सकते, परन्तु आगमाधार से इतना सुस्पष्ट है कि जिनेन्द्रदेव की भक्ति से लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त होते ही हैं।

जिनेन्द्र-भक्ति की उभयलोक-हितकारिता को जिनवाणी में किसान आदि के उदाहरणों द्वारा भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। यथा—

किसान तो धान के लिए खेती करता है, भूसे के लिए नहीं, परन्तु धान के साथ भूसा भी स्वयमेव उसे मिलता ही है, उसी प्रकार ज्ञानीजन तो जिनेन्द्रदेव की भक्ति

पारमार्थिक लाभ के लिए करते हैं, लौकिक लाभ के लिए नहीं किन्तु उससे उन्हें पारमार्थिक लाभ के साथ लौकिक लाभ भी स्वयमेव होते ही हैं।

तथा जैसे कोई अज्ञानी किसान केवल भूसे के लिए ही खेती करे तो उसे धान तो मिलेगा नहीं, भूसा भी उतना अधिक और वैसा उत्तम नहीं मिल पाएगा, उसी प्रकार लौकिक लाभ के लिए ही जिनेन्द्र-भक्ति करने वाले को लौकिक लाभ भी वैसा नहीं होता, जैसा पारमार्थिक लाभ के लिए भक्ति करने वाले को होता है। इसीलिए पं. टोडरमलजी ने लौकिक लाभ के लिए भक्ति करने का निषेध किया है। यथा—

“बहुते इस (लौकिक) प्रयोजनके अर्थि अरहंतादिककी भक्ति किए तीव्र- कषाय होनेकरि पापबन्ध ही हो है तातैं आपको इस प्रयोजनका अर्थी होना योग्य नाहीं। जातैं अरहंतादिककी भक्ति करतैं ऐसे प्रयोजन तौ स्वयमेव ही सधैं हैं।”

—(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 11)

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इस बात को इस प्रकार कहा है—

इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः इतः पिण्याकखण्डकम् ।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्वियन्तां विवेकिनः॥

—(इष्टोपदेश, 20)

अर्थात् एक तरफ दिव्य चिन्तामणि है और दूसरी तरफ खली का टुकड़ा। धर्मध्यान से जब यह दोनों ही प्राप्त होते हैं, तो बताओ ज्ञानी किसे चाहेगा?

अर्थात् पारमार्थिक लाभ ही दिव्य चिन्तामणि के समान है और विवेकी जीव उसी को चाहते हैं; किन्तु लौकिक लाभ भी, तुच्छ होते हुए भी, भक्तों को प्राप्त होते ही हैं और जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक वे प्राप्त होते ही रहेंगे। अनादिकाल से आज तक प्राणी जिनेन्द्रदेव की भक्ति के सहारे ही अपने दुःख-संतापों को शान्त करते आये हैं। धर्म उन्हें तत्काल फल देता है इसीलिए प्रिय है। उधार वाला धर्म किसी को प्रिय नहीं हो सकता। जिनेन्द्रभक्ति जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर हमें एक बार पुनः गहराई से चिन्तन करना चाहिए। ❖❖

वर्तमान को वर्द्धमान की आवश्यकता है

महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है कि— “भारतवर्ष की महानता केवल इसलिए नहीं है कि यहाँ हिमालय जैसा ऊँचा पर्वत और गंगा जैसी पवित्र नदियाँ हैं, बल्कि इसलिए है कि यहाँ हिमालय से भी ऊँचे और गंगा से भी पवित्र चरित्र के धारक पुरुष उत्पन्न हुये हैं और वह भी एक-दो नहीं, अनगिनत।”

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर उन्हीं अनगिनत महापुरुषों में से एक हैं। विचारणीय है कि आज हजारों वर्षों के बाद भी महावीर भगवान का स्मरण और अनुसरण क्यों उपादेय है, उसकी क्या प्रासंगिकता है?

दरअसल, भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्त —दोनों से आज बड़ी महत्त्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, इसीलिए आज हजारों वर्षों के बाद भी उनका स्मरण किया जा रहा है, यथा—

भगवान महावीर वैशाली के राजा सिद्धार्थ के इकलौते राजकुमार थे, जो अपार धन-वैभव के बीच रहते थे परन्तु जल में कमल की तरह निर्लिप्त। इससे हमें अनासक्त भाव से जीवन-यापन की महान् आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त होती है। आज इसी के अभाव में चारों ओर तनाव (Tension) और अवसाद (Depression) ने मनुष्य को घेर रखा है।

दूसरी बात— वर्द्धमान महावीर ने राजकुमार होते हुए भी राजा बनकर अथवा अन्य राज्यों एवं राजाओं को जीतकर और भी बड़ा राजा बनने का सपना नहीं देखा। दूसरों को जीतना, वह भी हथियार के बल पर —यह उन्हें कभी भी वीरता का कार्य नहीं लगा। उनका मानना था कि हथियारों से आप किसी को हरा तो सकते हो, पर जीत नहीं सकते, जीतने के लिए तो प्रेम और अहिंसा ही चाहिए, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

भगवान महावीर के अनुसार सच्ची वीरता तो वास्तव में अपने आत्मविकारों को जीतने का नाम है। यही कारण है कि वे बाहर की सब बातों से अपना ध्यान हटाकर अन्तर्मुखी हो गये और उन्होंने अपनी पूरी शक्ति अपने अंतरंग के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को जीतने (नष्ट करने) में लगा दी। 12 वर्ष की

ऐसी साधना के उपरान्त वे पूर्ण वीतराग एवं सर्वज्ञ बन गये।

वीतराग-सर्वज्ञ बनने के बाद उन्होंने प्राणीमात्र के हित का सार्वभौमिक उपदेश दिया। प्रतीत होता है कि वह उपदेश वर्तमान में और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। यथा—

उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति —इन पाँच को भी जीव बताकर इनकी हिंसा का निषेध किया और इनकी रक्षा का सभी को उपदेश दिया। यदि हम सब उसका पालन करते तो आज पर्यावरण-प्रदूषण और ग्लोबल वार्मिंग की भयंकर समस्या उत्पन्न नहीं होती तथा यदि अब भी पालन किया जाये तो इन समस्याओं का सहज समाधान हो सकता है, अभी भी बहुत देर नहीं हुई है।

भगवान महावीर ने एक अत्यन्त वैज्ञानिक आहार-पद्धति भी सिखाई थी, जिसमें रात्रिभोजन एवं मांसाहार आदि का निषेध था। आज हम देख रहे हैं कि उस आहार-पद्धति को न पालने के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, लोग बड़ी संख्या में रोगग्रस्त हो रहे हैं, गली-गली में हॉस्पिटल खुल गये हैं और फिर भी किसी में बेड खाली नहीं है।

भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समझाया था जिसे अपनाकर पूरा विश्व शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का स्वप्न साकार कर सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा हठाग्रह, कट्टरता आदि ऐसे अनेक दुर्गुणों को दूर किया जा सकता है, जिनसे आतंकवाद और हिंसा का जन्म होता है। स्याद्वाद सभी को एक छत के नीचे मिलजुल कर रहने की कला सिखाता है, क्योंकि इसके अनुसार मतभेद होते हुए भी मनभेद नहीं रहता है। आतंकवाद कहता है— मारो और मरो, जबकि अनेकान्तवाद कहता है— जीयो और जीने दो।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान युग में तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की अत्यंत आवश्यकता है और उसी से आज की विविध समस्याओं का समाधान हो सकता है।



परिवार के सदस्यों को भी धर्म के मार्ग में लगाओ

जम्बूस्वामी इस युग के अन्तिम अनुबद्ध केवली हैं। उनका जीवन-चरित्र बड़ा ही हृदयस्पर्शी एवं प्रेरणाप्रद है। यही कारण है कि जैन-साहित्य के भण्डार में उनके जीवन-चरित्र से सम्बन्धित सैकड़ों रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। जम्बूस्वामी के जीवन-चरित्र को पढ़कर हम अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु यहाँ मैं उनमें से एक बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

जम्बूस्वामी के जीवन-चरित्र की वह महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपने परिवार के लोगों को भी अपने ज्ञान-वैराग्यमय जीवन से प्रभावित कर संयम के मार्ग में लगाने में सफलता प्राप्त की; क्योंकि यह सबसे कठिन कार्य है। दुनिया के लाखों लोगों को समझाना सरल है, पर अपने घर के दो सदस्यों को भी समझाना अत्यन्त कठिन है। ‘उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला’ में कहा गया है कि—

“यह अइ कलम्मि खुत्तं, सगडं कइढंति केवि धुरि धवला ।

तह मिच्छाउ कुडुंबं, इह विरला केवि कइढंति ॥ 79 ॥”

vFk& जैसे कीचड़ में धँसी हुई गाड़ी को कोई बड़े शक्तिशाली बैल ही बाहर खींच पाते हैं, वैसे ही इस लोक में मिथ्यात्व रूपी कीचड़ में फँसे हुए अपने कुटुम्ब को कोई उत्तम विरले पुरुष ही उसमें से बाहर निकाल पाते हैं।

इसीप्रकार की एक उक्ति संस्कृतभाषा में भी प्रचलित है। यथा— **xtkuk i:deXukuk xtk bo èkjU/kjk** अर्थात् कीचड़ में धँसे हाथी को निकालने के लिए कोई धुरन्धर हाथी ही चाहिए।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अपने परिवार के लोगों को मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से बचाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मार्ग में लगा देना एक अत्यन्त कठिन कार्य है और इस अत्यन्त कठिन कार्य को करने में जम्बूस्वामी ने सफलता प्राप्त की— यह उनके जीवन-चरित्र की एक सबसे बड़ी विशेषता है, जो बारम्बार अभिनन्दन के योग्य है।

दुनिया में बड़े-बड़े धर्मात्मा और विद्वान् पंडित भी अक्सर यहीं आकर असफल हो जाते हैं। वे सारी दुनिया को उपदेश दे-देकर सन्मार्ग पर लगाने के बड़े-बड़े रिकॉर्ड बना लेते हैं, पर अपने घर के दो-तीन सदस्यों को भी नहीं समझा पाते। कोई अत्यन्त विरले ही (दो-चार प्रतिशत ही) इस दुष्कर कार्य में सफल हो पाते हैं। क्योंकि इस कार्य में बड़ा धैर्य और कौशल अपेक्षित होता है, पहले स्वयं को ही भलीभाँति सुधारना पड़ता है, उत्तम समय (Quality time) देना पड़ता है, उसमें कभी-कभी तो लम्बे समय तक प्रेमपूर्वक, तनिक भी उत्तेजित हुए बिना लगे रहना पड़ता है, इत्यादि; अन्यथा इस सम्बन्ध में अक्सर कुछ इस प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं। यथा—

1. या तो वे स्वयं भी धर्म के मार्ग से च्युत होकर अधर्म के मार्ग में प्रवृत्ति करना शुरू कर देते हैं।
2. या किसी को धर्म की बात कहना ही बिल्कुल बन्द कर देते हैं, समझाने की कोशिश ही बन्द कर देते हैं।
3. या समझाते-समझाते बहुत कषाय करने लग जाते हैं, अपना और उनका—दोनों का मन बहुत मलिन कर लेते हैं। परिवार के लोगों से सम्बन्ध भी बुरी तरह से खराब कर लेते हैं।

परन्तु वे लोग धन्य हैं जो अपने परिवार के सदस्यों को शान्तिपूर्ण हित-मित-प्रिय शैली का आश्रय लेकर बड़ी कुशलता के साथ युक्ति-दृष्टान्त आदि के द्वारा पुनः-पुनः समझाते रहते हैं और अन्ततोगत्वा इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सफल हो जाते हैं। जम्बूस्वामी ऐसे ही महापुरुष थे, मैं उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

जम्बूस्वामी की तरह अन्य भी अनेक धर्मात्माओं ने अपने परिवार के सदस्यों को धर्ममार्ग पर लगाया है। मैं उन सबको भी भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

शास्त्रों में मुनि दीक्षा लेने से पूर्व परिवार के सदस्यों को सम्बोधित करने का विधान मिलता है, जिसका प्रयोजन भी परिवार के सदस्यों को भी धर्ममार्ग पर लगाना है।

हम सबको भी अपने परिवार के सदस्यों को भी धर्म के मार्ग पर लगाने का प्रयत्न करना चाहिए।



दर्शनशास्त्र हम क्यों पढ़ें?

दर्शनशास्त्र के अध्ययन में हम सभी को अत्यन्त रुचिपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। यह कोई साधारण विषय नहीं है, अपितु एक प्रयोजनभूत विषय है। इससे लौकिक एवं पारलौकिक अनेक लाभ होते हैं। दर्शनशास्त्र के अध्ययन से सामान्यतः निम्नलिखित लाभ अवश्य होते हैं—

1. प्रत्येक प्राणी के अन्तर्मन की एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा तृप्त होती है।
2. समस्त वस्तुओं को देखने की समीचीन दृष्टि प्राप्त होती है। केवल चर्मचक्षुओं से नहीं, अपितु प्रज्ञाचक्षुओं से देखने की आदत विकसित होती है।
3. व्यक्ति में वैज्ञानिक चेतना का विकास होता है। उसकी चिन्तन की क्षमता बहुत विकसित होती है। चिन्तन की शैली परिष्कृत होती है। अंधविश्वास, संकीर्णता, पक्षपात, पूर्वाग्रह, दुराग्रह आदि दोष दूर होते हैं। क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाई-भतीजावाद जैसी बुराइयाँ समाप्त होती हैं। विश्वमैत्री की भावना उत्पन्न होती है। विरोधी से भी प्यार करने की कला प्राप्त होती है। मतभेद होते हुए भी मनभेद न रखने की कला समझ में आती है। विभिन्न विचारों के समुचित समन्वय की कला प्राप्त होती है।
4. तर्क और कुतर्क में अन्तर समझ में आता है और उससे समीचीन तर्कक्षमता का विकास और कुतर्क करने की बुरी आदत का विनाश होता है। मनुष्य अमृत-पुत्र बन जाता है— ‘शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः’ —ऋग्वेद।
5. दुःख एवं सुख के वास्तविक कारणों को पहचानने की क्षमता प्राप्त होती है, जिससे हित-अहित या लाभ-हानि का सत्य विवेक होता है।
6. भय, शोक, चिन्ता, तनाव आदि दोष दूर होते हैं, और उनके स्थान पर सहिष्णुता, शान्ति, धैर्य आदि सद्गुणों का विकास होता है। चित्त में निःशंकता, निर्भयता उत्पन्न होती है। बुद्धि प्रखर होती है। श्रद्धा सत्य एवं परिपक्व होती है। आचार भी निर्मल होता है।
7. दर्शनशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति की लेखन-कला में परिष्कार होता है। उसका लेखन बहुत व्यवस्थित, संतुलित एवं निर्दोष हो जाता है। इसीप्रकार व्याख्यान-कला में भी बहुत परिष्कार होता है। ❖❖

अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता

दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को तत्त्वज्ञान की निर्मलता या स्पष्टता के लिए सभी दर्शनों का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य करना चाहिए, किन्तु आजकल अधिकांश छात्र इस ओर ध्यान नहीं देते, वे मात्र 'अपना' ही एक दर्शन पढ़ते हैं और अन्य दर्शनों के ज्ञान का प्रयास नहीं करते। यहाँ तक कि कुछ छात्र तो अन्य दर्शनों के ज्ञान को अनावश्यक, अनुपयोगी या समय की बर्बादी भी बताते हैं, जो एक बड़ी भयावह स्थिति है। प्राचीन काल में ऐसा नहीं होता था, सभी छात्र सभी दर्शनों का ज्ञान करते थे। वे जानते थे कि सभी दर्शन एक-दूसरे के ज्ञान में सहायक हैं, अन्य दर्शनों को समझे बिना किसी एक दर्शन का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

दरअसल, प्रत्येक शास्त्र में पूर्व पक्ष के साथ ही उत्तर पक्ष को समझाया जाता है, पूर्व पक्ष में अन्य दर्शनों की मान्यताएँ रखी जाती हैं और फिर उत्तर पक्ष में उनका निराकरण करके अपना दर्शन स्थापित किया जाता है, किन्तु यदि हम पूर्व पक्ष को ही ठीक से नहीं समझे होंगे तो उत्तर पक्ष को कैसे समझेंगे? पूर्व पक्ष के बिना उत्तर पक्ष समझ में नहीं आ सकता। जिसे पूर्व पक्ष जितना अच्छा समझ में आएगा, उसे उत्तर पक्ष भी उतना ही अच्छा समझ में आएगा। अतः हमें मात्र एक 'अपने' दर्शन के ही ज्ञान का आग्रह नहीं रखना चाहिए, अपितु सभी दर्शनों के ज्ञान का उद्यम करना चाहिए। दर्शनशास्त्र के सच्चे विद्यार्थी के लिए वस्तुतः कोई दर्शन 'अपना' और कोई दर्शन 'पराया' नहीं होता।

दर्शनशास्त्र के एकांगी ज्ञान की यह स्थिति आज जैन दर्शन के विद्यार्थियों में भी देखी जा रही है, जबकि जैन परम्परा में तो सदा ही सभी दर्शनों के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। जैन पुस्तकालयों में भी सर्व दर्शनों के ग्रन्थों का संग्रहण-संरक्षण होता रहा है। हरिभद्रसूरि आदि कुछ जैनाचार्यों ने तो स्वतंत्र रूप से ही 'षड्दर्शनसमुच्चय' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया है, अतः जैन दर्शन के विद्यार्थियों को तो संकीर्णता छोड़ ही देनी चाहिए और जैनेतर दर्शनों के ज्ञान का भी यथासम्भव उद्यम करना चाहिए। उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि वह जैनेतर दर्शनों का ज्ञान नहीं करेगा तो उसे जैन ग्रन्थ भी ठीक से समझ में नहीं आ सकेंगे। यथा— कतिपय प्रसंग गंभीरतापूर्वक विचारणीय हैं—

जैन-ग्रन्थों में लक्षण-निर्माण के समय आचार्यगण अन्यमत-निराकरण की

दृष्टि से संक्षेप में सूत्ररचना करते हैं, जिसे जैनैतर दर्शनों का ज्ञाता व्यक्ति ही ठीक से समझ-समझा सकता है। जैसे—

‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।’ —परीक्षामुखसूत्र 1/1

प्रमाण के इस लक्षण में एक-एक पद के द्वारा एक-एक दर्शन की मान्यता का निराकरण किया गया है। यथा— ‘स्व’ पद अस्वसंवेदनवादी सांख्य, परोक्षज्ञानवादी मीमांसक और ज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादी योग के निराकरण हेतु है। ‘अपूर्व’ पद धारावाहिकज्ञानवादियों के निराकरण हेतु है। ‘अर्थ’ पद बाह्य अर्थ को न मानने वाले विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी, शून्याद्वैतवादी के निराकरण हेतु है। ‘व्यवसायात्मक’ पद निर्विकल्पज्ञानवादी बौद्धों के निराकरण हेतु है। ‘ज्ञान’ पद अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माननेवाले नैयायिकों के निराकरण हेतु है। —(प्रमेयरत्नमाला, पृष्ठ 14)

इसी प्रकार सिद्ध जीवों का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए आचार्य नेमिचंद्र गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में लिखते हैं कि—

‘अट्टविह कम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्टगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥’ —गाथा 68

vFk& सिद्ध अष्टविध कर्मों से रहित, शान्त, निरंजन, नित्य, अष्टगुण सहित, कृतकृत्य और लोकाग्रनिवासी होते हैं।

इसमें भी एक-एक पद के द्वारा एक-एक दर्शन की मान्यता का निराकरण किया गया है, जैसा कि आचार्य नेमिचंद्र ने स्वयं ही अगली गाथा में लिखा है—

‘सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णइयाइयो य वैसेसी ।

ईसरमंडलिदंसण-विदूसणट्ठं कदं एदे ॥’ —गाथा 69

vFk& उक्त सभी विशेषण क्रमशः सदाशिव, सांख्य, मक्कड़ी, बुद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, ईश्वरवादी और मांडलिक दर्शन के निराकरणार्थ किये गये हैं।

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए टीकाकारों ने जो कुछ लिखा है उसे अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता। यथा— ‘अट्टविहकम्मवियला’ पद से याज्ञिक और सदाशिव मत का निराकरण किया गया है। ‘सीदीभूदा’ पद से सांख्य मत का निराकरण किया गया है। ‘णिरंजणा’ पद से मस्करी मत का निराकरण किया गया है। ‘णिच्चा’ पद से बौद्ध मत का निराकरण किया गया है। ‘अट्टगुणा’ पद से नैयायिक-वैशेषिक मत का निराकरण किया गया है। ‘किदकिच्चा’ पद से ईश्वरसृष्टिकर्तृत्ववादी मत का निराकरण किया गया है। ‘लोयग्गणिवासिणो’ पद से मांडलिक मत का निराकरण किया गया है। —(संस्कृत टीका का सार)

इसी प्रकार अन्य भी सब समझना चाहिए।

वास्तव में, शास्त्रों के प्रत्येक कथन में कथ्य से अधिक निराकृत्य समाया होता है और उस निराकृत्य को समझे बिना कथ्य का पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्राप्त नहीं होता। जैसे कि जीव का स्वरूप समझाते हुए द्रव्यसंग्रह आदि शास्त्रों में जीव के नौ अधिकारों का उल्लेख किया गया है—

‘जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्डगदी ॥’

—आचार्य नेमिचंद्र, द्रव्यसंग्रह, गाथा 2

vFk& जीव के नौ अधिकार हैं— जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, ऊर्ध्वगमनत्व।

यहाँ भी एक-एक विशेषण के द्वारा एक-एक दर्शन का निराकरण किया गया है। यथा— ‘जीवो’ पद से चार्वाक मत का निराकरण किया गया है। ‘उवओगमओ’ पद से नैयायिक मत का निराकरण किया गया है। ‘अमुत्ति’ पद से भट्ट चार्वाक मत का निराकरण किया गया है। ‘कत्ता’ पद से सांख्य मत का निराकरण किया गया है। ‘सदेहपरिमाण’ पद से नैयायिक, मीमांसक एवं सांख्य मत का निराकरण किया गया है। ‘भोत्ता’ पद से बौद्ध मत का निराकरण किया गया है। ‘संसारित्व’ पद से सदाशिव मत का निराकरण किया गया है। ‘सिद्धत्व’ पद से भट्ट एवं चार्वाक मत का निराकरण किया गया है। ‘ऊर्ध्वगमनत्व’ पद से मांडलिक मत का निराकरण किया गया है।
—(बृहद्रव्यसंग्रह, गाथा 2 की टीका)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो व्यक्ति जैनेतर दर्शनों से परिचित नहीं होगा, वह इन्हें कथमपि नहीं समझ सकता। इसी प्रकार के और भी असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर सबका अभिप्राय यही है कि जैनेतर दर्शनों के ज्ञान बिना जैन शास्त्रों के कथनों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। मेरा स्वयं का भी अनुभव है कि मैंने जब से अन्य दर्शनों का कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, तब से मुझे जैन दर्शन के कथनों का ज्ञान अधिक स्पष्ट होने लगा है, अतः आप भी अन्य दर्शनों का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य प्राप्त करें यही मैं यहाँ कहना चाहता हूँ।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें तो मात्र अध्यात्म का ज्ञान करना है, अतः हमें अन्य दर्शनों के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु ऐसी बात भी बिल्कुल उचित नहीं है। आध्यात्मिक ग्रंथों को समझने के लिए भी अन्य दर्शनों का ज्ञान बहुत आवश्यक है। ‘समयसार’ जैसे परम आध्यात्मिक ग्रन्थ में भी स्थान-स्थान पर अन्य दर्शनों का बहुत उल्लेख हुआ है, जिसे अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता है। यथा—

(क) समयसार गाथा 117, 122, 340 में स्पष्टतया नाम लेकर सांख्यदर्शन का उल्लेख आया है— ‘पसज्जदे संखसमओ वा’ इत्यादि।

(ख) समयसार गाथा 321, 322 में ईश्वरसृष्टिकर्तृत्ववादी दर्शन का निराकरण आया है।

(ग) समयसार गाथा 347 में बौद्ध दर्शन का निराकरण आया है।

(घ) समयसार गाथा 86 में द्विक्रियावादी दर्शन का निराकरण आया है।

समयसार के हिंदी-वचनिकाकार पं. जयचंदजी छाबड़ा ने ऐसे स्थलों को अपने भावार्थों में अन्य दर्शनों की अपेक्षाएं स्पष्ट करके विस्तार से लिखा है —(देखिए समयसारकलश 131, 183 का भावार्थ)। जरा सोचिए, यदि पं. जयचंदजी छाबड़ा अन्य दर्शनों के ज्ञाता न होते तो बात को कैसे स्पष्ट करते ?

पं. जयचंदजी छाबड़ा ही नहीं, पं. टोडरमलजी, पं. भागचन्द्रजी, पं. टेकचंदजी आदि लगभग सभी आध्यात्मिक विद्वान् भी विविध दर्शनों का उचित ज्ञान रखते थे और इसीलिए वे जैन तत्त्वज्ञान को ठीक से समझने-समझाने में सफल हुए थे, अतः हम सबको भी यथाशक्ति अन्य दर्शनों के ज्ञान का प्रयास करना चाहिए।

अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना तो हम समयसार के ‘**नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते । चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥**’ जैसे आध्यात्मिक श्लोक को भी ठीक से नहीं समझ सकते, क्योंकि इसमें भी अन्य मतों की विवक्षा से ही सारे कथन किये गये हैं। —(देखिए समयसारकलश 1 का भावार्थ)। बहुत क्या कहें, एक णमोकार मन्त्र को भी अन्य दर्शनों के ज्ञान बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता।

द्रव्यसंग्रह के आध्यात्मिक टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ने तो प्रत्येक गाथा का शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ और भावार्थ के साथ मतार्थ भी समझना आवश्यक/अनिवार्य बताया है। यथा—

‘**एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः।**’ —(गाथा 2)

इससे अन्य दर्शनों के ज्ञान की महती आवश्यकता सिद्ध होती है। ब्रह्मदेवसूरि ने अपने परमात्मप्रकाश आदि सभी टीका-ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर अन्यमत-विवक्षा को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय, दर्शन, सिद्धांत विषयक ग्रन्थों के लिए ही नहीं, अध्यात्मविषयक ग्रन्थों के परिज्ञान हेतु भी अन्य दर्शनों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए कि यदि अन्य दर्शनों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक नहीं होता तो जैन आचार्यों ने प्रथमानुयोग के कथा-ग्रन्थों, पुराणों, श्रावकाचारों और पूजापाठ तक के प्राथमिक ग्रन्थों में भी षड्दर्शनों का परिचय क्यों लिखा है। यथा—

□ महापुराण, सर्ग 3 से 5 में विस्तार से षड्दर्शनों का परिचय दिया गया है।

- ❑ यशस्तिलकचम्पू षष्ठ आश्वास में भी विस्तार से षड्दर्शनों का परिचय दिया गया है।
- ❑ भद्रबाहुकथा में रङ्गू कवि लिखते हैं कि गोवर्धनाचार्य ने भद्रबाहु को सर्वप्रथम षड्दर्शनों का ज्ञान कराया। (पृष्ठ 7)
- ❑ मोक्षमार्गप्रकाशक में पं. टोडरमलजी ने एक पूरा पाँचवाँ अधिकार अन्यमत-समीक्षा का लिखा।
- ❑ हरिभद्रसूरि ने तो स्वतंत्र रूप से ही एक ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ नामक विशाल ग्रन्थ लिखा है।
- ❑ सिद्धचक्र-विधान जैसी पूजा-पाठ की कृति में भी कविवर पं. सन्तलाल जी ने अनेक स्थानों पर विविध दर्शनों का उल्लेख किया है। देखें पृष्ठ 144, 248, 251।

इन सबसे भी यह भलीभांति सिद्ध होता है कि समीचीन शास्त्रज्ञान के लिए अन्य दर्शनों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। दरअसल, दर्शनशास्त्र एक है, सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि तो उसकी शाखाएँ हैं। शाखाओं के ज्ञान बिना वृक्ष का पूर्ण ज्ञान सम्भव ही नहीं है। अतः दर्शनशास्त्र के सभी विद्यार्थियों को सभी विविध दर्शनों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

पुनश्च, यदि आप शास्त्रों के वक्ता, व्याख्याता या अध्यापक हैं, तब तो आपके लिए अन्य दर्शनों का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है—

(क) ‘ससमयपरसमयविदण्हू’ —आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्यभक्ति

vfk& आचार्य स्वसमय और परसमय के ज्ञाता होते हैं।

(ख) ‘तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो’ —धवला 1/1/48

vfk& वक्ता/लेखक को तात्कालिक (अपने समय के) सभी स्वसमय और परसमयों का पारगामी होना चाहिए।

(ग) ‘सर्वेषां दर्शनानां मनसि परिगतज्ञानवेत्ता भवेद्धि ।

वक्ता शास्त्रस्य धीमान्॥’ —आचार्य सोमसेन, 1/20

vfk& शास्त्रों के धीमान् वक्ता को सर्व दर्शनों का विशेष ज्ञाता होना चाहिए।

अन्त में, जिसप्रकार यहाँ अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित की, उसीप्रकार व्याकरण, भाषा, साहित्य, इतिहास, न्याय आदि अन्य शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता/उपयोगिता भी समझ लेनी चाहिए। विशेष रूप से वक्ता/लेखक को तो सर्व शास्त्रों का ज्ञान होना ही चाहिए, जैसा कि ‘प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः’ (आत्मानुशासन, 5), ‘सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो’ (इन्द्रनंदि, नीतिसार, 18) आदि वाक्यों द्वारा पूर्वाचार्यों ने भी स्पष्ट कहा है। ❖❖

जैनदर्शन की वैज्ञानिकता

आधुनिक समय कैसा भी हो, पर जैनदर्शन के प्रचार-प्रसार हेतु अत्यन्त अनुकूल है। केवल इसीलिए नहीं कि आज कम्प्यूटर, इंटरनेट (वेबसाइट, फेसबुक, ट्विटर, व्हाट्सअप आदि), टेलीफोन, टेलीविज़न चैनल्स एवं समाचार-पत्रादि दृश्य-श्रव्य संसाधनों (Audio-visuals) और आकाशगामी यातायात-साधनों के आविष्कार से सारी दुनिया सिकुड़कर मुट्ठी में आ गई है; बल्कि इसलिए कि आज का युग वैज्ञानिक युग है और लोगों में शीघ्रता से वैज्ञानिक चेतना का विकास हो रहा है। उदारता, तार्किकता, निष्पक्षता बढ़ रही है और संकीर्णता, दुराग्रह, अंधविश्वास आदि घट रहे हैं।

आज लोग किसी धर्म को सिर्फ इसलिए श्रेष्ठ नहीं मानते कि वह अपने कुल में चला आ रहा है और अपना है बस, बल्कि उसकी श्रेष्ठता को तर्क-युक्ति से समझना चाह रहे हैं और इसीलिए उनमें दूसरे धर्म के प्रति भी जिज्ञासा का भाव बढ़ा है। उन्हें आज कोरी धर्मान्धता या रूढ़िवादिता नहीं चाहिए, बल्कि एक ऐसा धर्म चाहिए जो पूर्णतः युक्तिसंगत हो, वैज्ञानिक हो।

प्राचीन काल में ऐसा भी समय आया था ज यदि कोई कहते कि ईश्वर इस जगत् का कर्ता-धर्ता नहीं है तो उसे नास्तिक, काफिर आदि कहकर मार दिया जाता था, ज़हर का प्याला पिला दिया जाता था या फाँसी पर लटका दिया जाता था, परन्तु आज सब लोग इस बात को शांतिपूर्वक सुनने-समझने लगे हैं, झूठे आतंक से मुक्त हो चुके हैं।

यही स्थिति आज जैनधर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार हेतु अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हो रही है; क्योंकि जैनदर्शन एक अत्यन्त उदार और वैज्ञानिक दर्शन है; उसमें व्यक्तिवाद, संकीर्णता, अंधविश्वास आदि को कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक विषय को परीक्षा द्वारा युक्तियुक्त सिद्ध होने पर ही स्वीकार करना-कराना उसकी मूल भावना है। जैनदर्शन के आचार एवं विचार— दोनों ही पक्ष इतने युक्तिसंगत हैं कि आज पुनः पुनः विज्ञान द्वारा उनके पुष्ट होने के समाचार आते रहते हैं।

जैनदर्शन की वैज्ञानिकता से प्रभावित होकर पद्मश्री डॉ. मुज़फ्फर हुसैन ने तो 'इक्कीसवीं सदी का धर्म है जैनधर्म' शीर्षक से सुन्दर निबन्ध भी लिखा है जो प्राकृत-

विद्या के जनवरी-जून 2010 के अंक में प्रकाशित हुआ है।

जैनदर्शन की वैज्ञानिकता के विषय में एक बार सन् 1934 में अहमदाबाद में महावीर जयन्ती समारोह में मुख्य अतिथि पद से जैनसमाज को संबोधित करते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था कि— अरे जैनियों! तुम्हारा धर्म तो अत्यन्त वैज्ञानिक है और यदि तुम चाहो तो आज के वैज्ञानिक युग में इसे सारे विश्व में फैला सकते हो, पर तुम तो सिर्फ पीले कपड़े पहनकर चावल चढ़ाने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री माने बैठे हो। अरे, कुछ प्रयास करो और अपने धर्म-दर्शन की समीचीनता दुनिया को सिद्ध करके दिखाओ।

जैनधर्म-दर्शन को जिसने भी एक बार शांति से पढ़ा-सुना- समझा है, वही उससे अत्यन्त प्रभावित हुआ है —इसके असंख्य उदाहरण उपलब्ध हैं। अभी कुछ माह पूर्व कांग्रेस के युवा नेता श्री राहुल गांधी ने मुझसे लगभग डेढ़ घण्टे तक शांतिपूर्वक बैठकर जैनधर्म के विषय में सूक्ष्म चर्चा की और फिर वे उससे इतने अधिक प्रभावित हुये कि बार-बार उनके मुख से निकलता रहा कि अरे, यह तो बड़ा वैज्ञानिक धर्म है। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व और अहिंसा के विषय में जैनदर्शन का सूक्ष्म चिन्तन समझकर वे विशेष प्रभावित हुए थे।

पिछले दिनों ईरान के विश्वविद्यालय से दो-तीन प्राध्यापक जो मुस्लिम थे, दिल्ली में लाल जैन मन्दिर देखकर जैनधर्म के विषय में जानने को उत्सुक हुये। जैन समाज दिल्ली के अध्यक्ष श्री चक्रेश जैन के कहने से प्रो. एम.एल. जैन दरियागंज उन्हें मेरे पास लेकर आये। उन्होंने मुझे लिखित में 20 प्रश्नों की सूची दी जो जैनधर्म और इस्लाम के तुलनात्मक ज्ञान की अपेक्षा रखती थी। मैंने उन्हें सभी प्रश्नों के उत्तर उनके कुछ प्रामाणिक उद्धरण जुटाकर दिये और अन्त में तीर्थंकर ऋषभदेव के विषय में भी समझाया कि— जिसे जैनधर्म में नाभि-पुत्र ऋषभदेव या आदिनाथ कहते हैं, उसे ही इस्लाम में नबी का बेटा रसूल या बाबा आदम कहते हैं। उन्होंने ही सृष्टि के आरम्भ में धर्म-कर्म का मर्म बताकर प्रजा का मार्गदर्शन किया था—

“नबी के बेटा रसूल ने कहा।

सभी धर्मों का निहात उन्हीं ने कहा ॥”

उन्होंने सबको अहिंसा का उपदेश भी इसप्रकार दिया था—

“ऐन खुदा से मिलने का, यही रस्ता है नर।

दिल किसी का ना दुखा और जो चाहे सो कर ॥”

तब वे जैनधर्म से इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने कहा कि वे अब ईरान जाकर जैनधर्म पर एक पुस्तक भी लिखेंगे। वे मुझसे बहुत सारी जानकारियाँ पूछकर और उसकी वीडियो रिकॉर्डिंग बनाकर ले गये हैं।

पिछले दिनों रोम से 20 पादरी आये और उन्होंने जैनधर्म और ईसाई धर्म के

तुलनात्मक अध्ययन हेतु एक कार्यक्रम रखा। मैंने उसमें उन्हें श्री नगेन्द्रनाथ वसु के 'विश्व हिन्दी कोश' आदि के उद्धरण देकर सप्रमाण बताया कि— महात्मा ईसा 6 माह तक जैन साधुओं की संगति में रहे थे और उनसे क्षमा, करुणा की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। पालिताणा जिसे वे पेलस्टाइन कहते हैं, मैं रहकर उन्होंने 40 दिन का उपवास भी किया था। इत्यादि। इससे वे भी बहुत अधिक प्रभावित हुये और मेरे सारे नोट्स अपने साथ ले गये।

रूस में प्रो. नातालिया झेलेझोनावा जैनदर्शन के अध्ययन में पूरी तरह मग्न हो गई हैं। उन्होंने समयसारादि अनेक ग्रन्थों के रसियन भाषा में अनुवाद भी कर लिये हैं। वे अभी किसी विद्वान् से आचार्य पूज्यपाद रचित 'सर्वार्थसिद्धि' को पंक्तिशः पढ़कर जैनधर्म के विषय में और अधिक सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहती हैं। कुन्दकुन्द भारती शोध संस्थान ने इनको पाँच लाख रुपये का **vkpk; dUndUn iJLdkj** भी प्रदान किया है। कहने यह है कि आज सारी दुनिया में जैनधर्म के प्रति जिज्ञासा बढ़ी है और लोग उसकी वैज्ञानिकता से प्रभावित भी हो रहे हैं। परन्तु उन्हें उचित सामग्री और सहयोग (उसे समझाने वाला आदि) नहीं मिल पा रहा है। अतः हमारा (सम्पूर्ण जैन समाज का) कर्तव्य है कि हम उन्हें समुचित सामग्री और सहयोग उपलब्ध कराएँ। आजकल विदेशों में प्रायः हर विश्वविद्यालय अपने यहाँ जैनदर्शन विभाग या जैन अध्ययन केन्द्र खोल रहा है और अनेक लोग उसमें पीएच.-डी. तक भी कर रहे हैं। विदेशों में जैन-अध्ययन के प्रति ऐसी रुचि देखकर आचार्य जिनसेन का यह कथन सहज ही स्मृति-पथ पर आ जाता है—

“शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात्।

प्रच्युत्यार्यनिवासात् स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु ॥”

—आचार्य जिनसेन, महापुराण, 41/72, पृष्ठ 322

हे चक्रवर्ती भरत! तूने जो स्वप्न में जिसका मध्य भाग सूखा हुआ है, ऐसे तालाब के चारों ओर पानी भरा हुआ देखता है उससे प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्ड से हटकर धीरे-धीरे प्रत्यन्तवासी—म्लेच्छ खण्डों में ही रह जायेगा।

(प्रत्यन्त — ‘प्रत्यन्त म्लेच्छदेशः स्यात्।’ —अमरकोश, 2/1/7, पृष्ठ 112)

आजकल उच्च-शिक्षा में निष्पक्ष एवं प्रामाणिक शोध कार्य पर बहुत जोर दिया जा रहा है और इसीलिए विश्वविद्यालयों में पी.एच.-डी. के अतिरिक्त अनेक सम्मेलन-संगोष्ठी भी आयोजित किये जाते हैं, जिनमें विद्वानों को शोधपत्र तैयार करके प्रस्तुत करना होता है। देखा जाता है कि अनेक जैनेतर विद्वान् भी जैनधर्म, दर्शन या साहित्य के किसी विषय पर शोध-निबन्ध तैयार करना चाहते हैं पर उन्हें सामग्री (जैनग्रंथादि) उपलब्ध नहीं हो पाती। जैन धर्म के अनुयायियों के लिए यह बड़े खेद की बात होनी चाहिए और उन्हें इस दिशा में ठोस कदम उठाना चाहिए। ❖❖

जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान की तुलना

आजकल जैनदर्शन का आधुनिक विज्ञान के साथ तुलनात्मक अध्ययन बहुत किया जा रहा है— यह बहुत अच्छी बात है। आज विज्ञान का युग है, लोग इससे बात को अच्छी तरह समझते हैं। तथा जैनदर्शन भी एक बड़ा ही वैज्ञानिक दर्शन है जो अंधविश्वास, आडम्बर, पाखण्ड, व्यक्तिवाद, जातिवाद, मतवाद आदि से ऊपर उठकर तार्किक ढंग से वस्तुस्वरूप का विवेचन-विश्लेषण करता है। उसका आचार एवं विचार— दोनों ही पक्ष आज आधुनिक विज्ञान द्वारा बहुत अधिक पुष्ट हो रहे हैं। यह सब बहुत अच्छी बात है, किन्तु इसमें कुछ विशेष बात भी है, जिसका हमें अवश्य ध्यान रखना चाहिए। कुछ लोग आवेग में आकर जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान को पूर्णतः समान कह देते हैं, जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं है। जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान के विचारों में बहुत अंतर भी है। अतः जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय पर्याप्त सावधानी रखनी चाहिए। जैसे कि—

1. आज आधुनिक विज्ञान भी रात्रिभोजन का निषेध करता है, किन्तु हो सकता है कि कल कोई वैज्ञानिक रात्रि में भी भोजन करना आवश्यक उपयोगी सिद्ध कर दे। ऐसी स्थिति में समस्या खड़ी हो जाएगी। हमें उसका भी समाधान साथ में बताना चाहिए।
2. पानी को शुद्ध करने के लिए वैज्ञानिकों ने भी आरो आदि यंत्र बनाए हैं, परंतु उनमें हिंसा है। जैनदर्शन में अहिंसक रीति से ही पानी को शुद्ध करके पीने का उपदेश दिया है। सुना है कि आरो आदि से शुद्ध करने में पानी के पोषक तत्व भी नष्ट हो जाते हैं। अतः यहाँ भी पूरा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।
3. वनस्पति को तो जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान दोनों ही जीव मानते हैं, परंतु जैन दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी जीव मानता है, जिनको अभी आधुनिक विज्ञान नहीं मानता। ऐसे अन्य भी बहुत तथ्य हैं, उनका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है।
4. जैनदर्शन का उद्देश्य सर्वत्र अहिंसा, संयम और वीतरागता का पालन कराना

है। आधुनिक विज्ञान को इससे कोई मतलब नहीं है। वह तो मानो अधिकाधिक भोग और सुविधा देने के लिए ही कार्य कर रहा है।

5. जैन दर्शन में उपवास, एकासन, ब्रह्मचर्य, मुनिधर्म, सल्लेखना आदि अनेक विषय ऐसे हैं, जिनको अभी आधुनिक विज्ञान ठीक से स्वीकार नहीं करता, अपितु इनके सम्बन्ध में विपरीत बात कहता है।

अतः जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान पूर्णतया समान ही हैं— ऐसा समझना-समझाना बड़ी भारी भूल होगी। कई लोग जैन दर्शन के विद्वान् होकर भी ऐसी भूल कर देते हैं। यह ठीक नहीं है। हमें पूरी बात ठीक से समझनी-समझानी चाहिए। जैन दर्शन की पद्धति और प्रयोजन का स्पष्ट कथन करना चाहिए।

इसी प्रकार आजकल अनेक लोग जैनदर्शन के अपरिग्रहवाद की समाजवाद-साम्यवाद के साथ तुलना करके दोनों को एक कह देते हैं, पर यह भी बड़ी भूल है। अपरिग्रहवाद को व्यक्ति आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छा से स्वीकार करता है, जबकि समाजवाद-साम्यवाद तो राजकीय आदेश से सभी को बलात् स्वीकार करना पड़ता है। इत्यादि।

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान में समानताएं

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान में अनेक महत्वपूर्ण समानताएं हैं। हम इनके माध्यम से विश्व के अधिकतम लोगों तक जैन तत्त्वज्ञान को पहुँचा सकते हैं, हमें उनका आश्रय लेना चाहिए। यथा—

- दोनों ही ईश्वर को जगत का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं मानते।
- दोनों ही सब वस्तुओं को मूलतः अनादिनिधन मानते हैं।
- दोनों ही सब वस्तुओं को द्रव्य अपेक्षा नित्य और पर्याय अपेक्षा अनित्य मानते हैं।
- दोनों ही अनेकान्तवाद को स्वीकार करते हैं।
- दोनों ही एकान्तवाद को नहीं मानते।
- दोनों ही पुद्गल द्रव्य का स्वरूप लगभग एक-सा ही मानते हैं।
- दोनों ही शब्द, प्रकाश, छाया, अंधकार आदि को पुद्गल की पर्याय मानते हैं।
- स्पर्श-रस-गंध-वर्ण की अवधारणा न्यायादि दर्शनों से नहीं मिलती, जैनदर्शन से ही मिलती है।
- दोनों ही वृक्षादि को जीव मानते हैं।
- दोनों ही रात्रिभोजन को हेय मानते हैं।

- दोनों ही शुद्ध जल पीने की शिक्षा देते हैं।
- दोनों ही बासी भोजन आदि को हेय मानते हैं।
- दोनों ही मद्य-नशे (शराब, तम्बाकू, गुटखा आदि) को हेय मानते हैं।
- दोनों ही मांसाहार को हेय मानते हैं।
- दोनों ही सूर्य-चन्द्र आदि की एक संख्या का निषेध कर अनेक संख्या मानते हैं।
- अन्य भी अनेक अभक्ष्य वस्तुओं को दोनों समान रूप से हेय कहते हैं।
- जैनों की लगभग पूरी आहार-संहिता विज्ञान-सम्मत सिद्ध होती है।
- जैनों की आचार-संहिता पर्यावरण-विज्ञान के भी अनुकूल सिद्ध होती है।
- अन्य जैन सिद्धांतों में भी आधुनिक विज्ञान कोई बाधा उपस्थित नहीं।

जैनदर्शन और वाल्ट ह्विटमैन

जैनदर्शन इस विश्व की एक अत्यन्त प्राचीन, व्यापक एवं समृद्ध विचारधारा रही है। प्रामाणिकता, परीक्षाप्रधानता, उदारता, समन्वयशीलता, अहिंसाप्रियता आदि विशेषताओं के कारण जैनदर्शन ने विश्व के कोने-कोने में पहुँचकर असंख्य चिन्तकों को प्रभावित किया है। प्रतीत होता है कि जिसने भी निष्पक्ष होकर एक बार जैनदर्शन को पढ़ा-समझा है वही जैनदर्शन से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है, चाहे वह किसी भी भाषा, क्षेत्र, व्यवसाय से ही सम्बन्धित क्यों न रहा हो। ऐसे विविध भाषा-भाषी और विभिन्न क्षेत्र निवासी राजाओं, मन्त्रियों, व्यापारियों, कवियों, लेखकों आदि की एक ऐसी लम्बी सूची तैयार की जा सकती है जो जैनधर्म-दर्शन से हृदय से प्रभावित हुए हैं और जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा यथाशक्ति उसके प्रचार-प्रसार में अपना अमूल्य योगदान दिया है।

यहाँ हम इसी सन्दर्भ में एक विश्वविख्यात अंग्रेजी कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walter Whitman) का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते हैं। वाल्ट ह्विटमैन अमेरिका के एक अत्यन्त विख्यात कवि, निबन्धकार, पत्रकार, सम्पादक और अध्यापक रहे हैं, जिनका समय 31 मई 1819 से लेकर 26 मार्च 1892 तक है। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना की है, जिनमें से निम्नलिखित चार विशेष उल्लेखनीय हैं—

1. लीव्स ऑफ ग्रास (Leaves of Grass)
2. ड्रम टेप्स (Drum-Taps)
3. सान्नास ऑफ माईसेल्फ (Songs of Myself)
4. मैमोरेण्डा ड्यूरिंग दा वार (Memoranda During the War)

इनमें भी ‘लीव्स ऑफ ग्रास’ सम्पूर्ण अमेरिकन कविता में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि उसके कारण वाल्ट ह्विटमैन को समालोचकों ने अमेरिकन कवियों में सर्वोत्तम “Greatest of all American Poets” कहा है।

वाल्ट ह्विटमैन की कविताओं में स्थान-स्थान पर जैनदर्शन और अध्यात्म की मौलिक अवधारणाओं का गहन समावेश प्राप्त होता है। जिससे यह भलीभाँति

ज्ञात होता है कि वाल्ट ह्विटमैन जैनदर्शन और अध्यात्म के बहुत अच्छे जानकार थे। न केवल जानकार थे, अपितु हृदय की गहराइयों तक उससे प्रभावित थे और इसीलिए उनकी अनेकानेक कविताएँ जैन अध्यात्म से ओत-प्रोत दिखाई देती हैं। वाल्ट ह्विटमैन के ‘लीक्स ऑफ़ ग्रास’ की कुछ कविताओं में तो इतना अधिक जैनदर्शन निहित है कि उन कविताओं को जैन अवधारणाओं को समझे बिना बिलकुल नहीं समझा जा सकता।

‘लीक्स ऑफ़ ग्रास’ कविता मुख्यतः निम्न जैन सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत करती है—

1. जीव यद्यपि अनादिकाल से शरीर से इच्छा के कारण बंधा हुआ है परन्तु स्वभावतः वह साक्षात् परमात्मा है। जीव, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।
2. आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी जीव एक समान हैं, परन्तु व्यवहार में अपने कर्मों के स्वयं कर्ता और भोक्ता हैं। उनके ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई ईश्वर अथवा अदृष्ट नहीं है।
3. अनादिकाल से जीव कर्मों से आबद्ध होने के कारण अशुद्ध हो रहा है, जो इच्छा को जीतकर शुद्ध हो सकता है।
4. जब सब जीव एक समान हैं तो जो बात एक व्यक्ति के लिए अप्रिय है, वह सभी व्यक्तियों के लिए अप्रिय होगी, इसीलिए अहिंसा ही परम धर्म है।
5. निर्वाण ही परम धर्म है, जिसको प्राप्त करने के लिए आत्मविजयी होना परम आवश्यक है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये सभी अवधारणायें जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। प्रत्येक आत्मा को समान एवं स्वतन्त्र कहना, उसे स्वभाव से परमात्मा मानकर पर्याय में भी परमात्मा बन जाने की बात कहना और अन्य किसी कर्ता-धर्ता ईश्वर को नहीं मानना ही तो जैनदर्शन की विशेषताएँ हैं।

वाल्ट ह्विटमैन ‘लीक्स ऑफ़ ग्रास’ नामक अपनी कविता में लिखते हैं—

“एक बालक ने पूछा घास है क्या?
बालक को मैं क्या उत्तर दूँ?
मैं तो यह जानता हूँ कि यह वही है,
मुझे लगता है कि हरी वनस्पति के रूप में
वह मेरे ही स्वभाव का ध्वज है।”

घास से भी आगे बढ़ कर वह सभी पशु-पक्षियों में अपना ही रूप देखते हुए अन्यत्र लिखते हैं—

“ये फुदकते गुंफेदार पूँछ वाले पशु,
और, ये उड़ते हुए पतंगे, निश्चय ही, अरे,
पतंगे नहीं हैं;
वे तो मेरे ही दूसरे रूप हैं।
उनमें कमजोर से कमजोर और हीन से भी हीन,
मेरे ही साथ मेरी तरह अमर हैं।”

जैनों के अनुरूप ही वाल्ट व्हिटमैन ने भी आत्मा को परमात्मा का ही रूप माना है जैसा कि उनके निम्न पद से भली प्रकार प्रकट है—

“सांत्वना प्रदायक महान कोमल, भव्य
आगे बढ़ता हुआ, करुण वरद हस्त को फैलाए,
महान शक्तिशाली परमात्मा मैं हूँ।”
आगे उन्होंने इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—
“मैं किसी की प्रभावना के गीत नहीं गाता,
और न ईश्वर के गीत गाता,
बल्कि मैं तुम्हारी प्रभावना के गीत गाने
का इच्छुक हूँ।”

“मैं ही अकेला वह हूँ, जो तुम्हारे ऊपर किसी
मालिक, स्वामी, ईश्वर को स्थापित नहीं करता;
अरे वही तो ईश्वर है, जो तुम्हारे अन्तर में
छुपा हुआ है।”

“.....अरे नहीं, कुछ भी नहीं ईश्वर भी नहीं,
व्यक्ति के लिए उसकी अपनी आत्मा से बड़ा
कोई नहीं है।”

“इसीलिए, मैं मानव-समाज से कहता हूँ—
ईश्वर के लिए कौतूहल न दिखाओ,
मुझे परमात्मा सर्वत्र दिखता है;
पर बुद्धि से वह समझ नहीं आता !
मैं कैसे मानूँ कि मेरी आत्मा से बढ़कर भी कोई है।”

जैनधर्म में मृत्यु को एक महोत्सव माना जाता है, क्योंकि जैनधर्म के दर्शन का प्रभाव यह होता है कि मानव निःशंक और निःकांक्षी हो जाता है। वह मृत्यु से भी नहीं डरता। इसलिए जैन धर्म में आस्था रखने वाले किसी भारतीय कवि ने लिखा है—

“ज्ञानी जन को क्यों भय होता, पाकर यह मृत्यु-महोत्सव है।
आत्मा-स्वभाव में रमता है, जब केवल देह बदलता है।”

इसी विश्वास को वाल्ट ह्विटमैन के शब्दों में सुनिए—

“अरी ओ मृत्यु ! तू मर्त्यत्व की कटुता है,
मुझे तू क्या डराएगी;
ऐ मेरे भाइयों और बहनो, क्या तुम यह नहीं देखते,
अरे यह मरण कहां है? यह एक व्यवस्था है?
यह अमर जीवन का प्रवाह है—यही तो सुख है।
भूत, भावी और वर्तमान—मैंने उनको भर-भर
कर खाली किया है;
और अब आगे अपने दूसरे भव को
भरने के लिए बढ़ रहा हूँ।”

जैनों की तरह वाल्ट ह्विटमैन का भी कर्म और आवागमन में दृढ़ विश्वास था।
उनके अनुसार जीव कर्मों को जीत कर आवागमन से मुक्त हो जाता है। उन्होंने
कहा है—

“गत काल की विधि को झुठला नहीं सकते,
वर्तमान और भावी विधि को भी धोखा नहीं दे सकते;
जीवन-विधि को भी झुठला नहीं सकते,
वह शाश्वत है।”

एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं :—

“अरे ! यह वर्ष नहीं है, हम हैं आप हैं,
हम ही सब विधि चाहते हैं और भूत का
लेखा-जोखा जोहते हैं;
अरे हम तो आदि और अन्तहीन काल की सीमा पर खड़े हैं
सब कुछ हमारे चहुं ओर घूम रहा है,
उतना ही अन्धकार है, जितना कि प्रकाश।”

अन्त में वाल्ट ह्विटमैन एक मार्मिक सत्य की घोषणा निम्न शब्दों में करते हैं—

“अहो ! युद्धों और संघर्ष के मध्य भी,
जिस ध्येय का नामकरण हो चुका है,
वह बदला नहीं जा सकता।
अरे ! उन युद्धों और संघर्षों को पहिचानो,
जिनके मध्य से होकर प्रत्येक जीव को
अध्यात्मविजयी (जिनेन्द्र) बनना है।”



‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्’

सामान्य जन तो अज्ञानी होने के कारण धर्म के मार्ग पर चलते ही नहीं हैं, परन्तु अनेक लोग विद्वान् पंडित होकर भी, धर्म के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी उस पर चलते नहीं हैं। यह अत्यन्त खेद एवं आश्चर्य का विषय है।

ऐसे लोगों के लिए आचार्य अकलंकदेव की यह सूक्ति बारंबार गंभीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करने योग्य है—

‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्’

अर्थात् क्रिया-रहित, (आचरण-रहित) ज्ञान निष्फल/निष्प्राण है।

यद्यपि आचार्य अकलंकदेव ने साथ ही यह भी स्पष्ट कहा है कि ज्ञान-रहित की क्रिया निष्फल/निष्प्राण है, यथा—

‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।’ —राजवार्तिक, 1/1

vfk— क्रियाहीन ज्ञान निष्फल है और ज्ञानरहित की क्रिया भी निष्फल है।

अतः उनका अभिप्राय हमें समीचीन रूप से इसप्रकार समझना चाहिए कि ज्ञान नहीं है तो ज्ञान करो और ज्ञान करके उसे आचरण में भी अवश्य उतारो।

तथापि जिन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ है उन्हें तो ‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनं’ कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

प्रश्न है कि प्राप्त ज्ञान को क्रिया में कैसे उतारें?

उत्तर— धर्म की असंख्य क्रियाएँ हैं और उन्हें जीवन में उतारने की एक ही मूलभूत विधि है— ध्यान, आत्मध्यान। एक आत्मध्यान में धर्म की असंख्य क्रियाएँ सहज अन्तर्भूत हो जाती हैं। जैसा कि कहा भी गया है—

‘तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते ।’

—परमात्मप्रकाश-टीका, 2/68

vfk— शुद्धोपयोग रूप ध्यान में वीतराग-सर्वज्ञ-प्रणीत सभी धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इसीप्रकार आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी 'द्रव्यसंग्रह' में कहा है कि—

“दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाऊणदि जं मुणी णियमा ।

तम्हा पयत्त चित्ता जूयं झाणं सम्मसह ॥”

—द्रव्यसंग्रह, 47

वfk— निश्चय और व्यवहार रूप दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनिजन ध्यान में अनिवार्यतः प्राप्त कर लेते हैं, अतः तुम सब सावधान होकर ध्यान का अभ्यास करो ।

अतः हम सबको प्रतिदिन ध्यान/आत्मध्यान का प्रयत्न करना चाहिए ।

ध्यान सर्व समाधानकारक भी है । हमारे जीवन में अनगिनत समस्याएँ हैं— आकाश के तारों के समान; मानसिक, शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि; परन्तु सभी के समाधान वास्तव में देखा जाए तो एक ध्यान या आत्मध्यान में ही अन्तर्निहित हैं और ज्ञानीजन उसी में से उन समाधानों को प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं ।

इसका एक बड़ा ही सारगर्भित रूपक/कथानक है, जो इसप्रकार है—

एक महात्माजी थे । वे वाराणसी में अपने आश्रम में भक्तगणों के साथ सदैव ज्ञान-ध्यान में लीन रहते थे । उनके पास एक तोता भी था और वातावरण के प्रभाव से वह भी मनुष्य की बोली में कुछ अच्छे-अच्छे शब्द बोलना सीख गया था । आने-जाने वालों से वह कहता— जय जिनेन्द्र! आइए!! पधारिए!!! इत्यादि । लोग बहुत प्रभावित होते ।

एक दिन की बात— चार आतंकवादी लोग आश्रम से गुजर रहे थे । तोते को मनुष्य की बोली में अच्छी-अच्छी बातें बोलते देखकर उनका मन उसे अपने घर ले जाने का हो गया । उन्होंने महात्माजी से कहा— ये तोता हमें चाहिए ।

महात्माजी— यह तोता बिकाऊ नहीं है, आगे जाओ ।

आतंकवादी— ए बुढ़े! सीधे से देता है या नहीं?

महात्माजी समझ गये कि ये पापी लोग हैं और तोते को ले जाए बिना नहीं रहेंगे । वे मन मसोस कर रह गये । आतंकवादी तोते को लेकर चले गये ।

आतंकवादियों के घर का वातावरण बिल्कुल विपरीत था, अतः तोता वहाँ बहुत उदास रहने लगा ।

एक दिन किसी कार्य से वे आतंकवादी पुनः वाराणसी जा रहे थे । जाते समय उन्होंने तोते से कहा— हम तेरे गुरुजी के पास जा रहे हैं, कोई काम हो तो बता दे ।

तोता— एक प्रश्न का उत्तर मेरी समझ में नहीं आ रहा है— मुक्ति का क्या उपाय है। कृपया अवश्य पूछकर आइएगा।

आतंकवादी महात्माजी के आश्रम पहुँचे तो उन्हें देखते ही महात्माजी ने पूछा— भैया! मेरा तोता तो ठीक है न? कैसा है? क्या करता रहता है?

आतंकवादी— वह बिल्कुल ठीक है, सदा ही गहरे चिन्तन में डूबा रहता है। यद्यपि यहाँ जैसा प्रसन्न तो नहीं रहता है, उदास-सा ही बना रहता है; पर उसने आपसे एक प्रश्न पूछा है कि मुक्ति का क्या उपाय है।

महात्माजी सारी बात समझ गये कि तोता वहाँ बहुत दुःखी है और वहाँ से छुटकारा चाहता है; परन्तु उन आतंकवादियों को कैसे क्या कहते? अतः श्वास-निरोध करके कायोत्सर्ग करने लग गये।

आतंकवादी ध्यान की इस स्थिति को क्या जानते? उन्होंने तो समझा कि महात्माजी मर गये और कहीं उन पर ही उन्हें मारने का आरोप न लग जाए, पुलिस उन्हें पकड़ न ले— इस डर से घबराकर वे वहाँ से ऐसे भागे कि अपने घर ही आकर रुके।

घर पहुँचते ही तोते ने पूछा— मेरे गुरुजी से मिले क्या? कैसे हैं वे? मेरा प्रश्न पूछा क्या? क्या उत्तर दिया उन्होंने?

आतंकवादी— अरे थोड़ी साँस तो लेने दे, बड़ी जोर से डर कर भाग कर आये हैं।

तोता— क्यों क्या हुआ?

आतंकवादी— अरे, तेरे गुरुजी अच्छे खासे थे, तेरे बारे में हमसे ठीक तरह बात भी कर रहे थे, पर जैसे ही हमने तेरा प्रश्न पूछा कि मुक्ति का क्या उपाय है, वे तो मर गये। हमने सचमुच कुछ भी नहीं किया, पर लोग हमें ही पकड़ लेते कि हमने कुछ कर दिया होगा, अतः हम तो अपने प्राण बचाकर भाग आये।

अब्वल उस्ताद को इशारा ही काफी है। तोता समझ गया कि मुक्ति का उपाय क्या है और उसने भी गुरुजी की तरह कायोत्सर्ग/ध्यान करना प्रारंभ कर दिया।

आतंकवादी यहाँ भी ध्यान की स्थिति को नहीं समझ सके। उन्हें लगा— लो, यह तोता भी मर गया। पता नहीं आज क्या बात है, इसके गुरुजी से बात की तो वे मर गये और अब इस तोते से बात की तो यह भी मर गया।

उन्होंने पिंजरा खोला और तोते को उठाकर बाहर फेंक दिया। तोता जमीन में गिरने की बजाय यह कहते हुए आकाश में उड़ गया कि— मिल गया मुक्ति का उपाय! टाटा बाय बाय !!

इस कथानक का मुख्य सन्देश यही है कि— ध्यान/आत्मध्यान ही सर्व दुःखों से मुक्ति का एक मात्र उपाय है। ध्यान से लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं, जैसा कि अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा है।

हाँ, यह बात सत्य है कि ज्ञानीजन लौकिक लाभ के लिए ध्यान को नहीं चाहते और हमें भी नहीं चाहना चाहिए। कहा है—

“इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाऽऽद्रियन्तां विवेकिनः ॥”

—पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, 20

HkkokFk— ध्यान से दोनों चीजें प्राप्त होती हैं— पारमार्थिक भी और लौकिक भी; किन्तु उनमें से एक तो दिव्य चिन्तामणि के समान है और दूसरी खली के टुकड़े के समान; अतः अब तुम ही बताओ कि ज्ञानीजन किसे चाहेंगे?

ध्यान का मुख्य प्रयोजन तो मोक्ष/मुक्ति ही है, क्योंकि वही उत्तम सुख देता है। यथा—

“उत्तमु सुखु ण देइ जइ उत्तमु मुखु ण होइ ।
तो किं इच्छहिं बंधणहिं बद्धा पसुय वि सोइ ॥”

—योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश, 2/5

vFk— यदि मोक्ष उत्तम सुख न देता हो तो वह उत्तम कैसे हो सकता है? अर्थात् मोक्ष तो उत्तम सुख देनेवाला ही होता है; तभी तो बंधनबद्ध पशु-पक्षी तक भी उसे चाहते हैं। ❖❖

जैनदर्शन में ज्ञानमीमांसा

जैनदर्शन के ग्रन्थों में ज्ञान का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक ऊहापोह करते हुए लिखा गया है। यहाँ उसे संक्षेप में बिन्दुवार लिखने का एक लघु प्रयास करते हैं। आशा है इससे इस विषय को सर्वांग रूप से समझने में कुछ सहायता प्राप्त होगी।

ज्ञान का स्वरूप समझने से आत्मा का स्वरूप भी समझ में आएगा, क्योंकि जो ज्ञान है वही आत्मा है। ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है। अथवा आत्मा का लक्षण है। लक्षण से लक्ष्य का ग्रहण सकल हो जाता है। अथवा, आत्मा अव्यक्त है और ज्ञान व्यक्त, इसलिए भी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण कराया है। अतएव यहाँ ज्ञान का स्वरूप समझने की कोशिश करते हैं—

1. ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, वह कहीं बाहर से नहीं आता।
2. ज्ञान का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं है, अपितु स्वरूप (तादात्म्य) सम्बन्ध है— अग्नि और उष्णता की भाँति।
3. ज्ञान का आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं।
4. ज्ञान को सांख्यमत के समान अचेतन भी नहीं माना जा सकता।
5. ज्ञान या ज्ञान की कोई भी पर्याय वास्तव में दुःख का कारण नहीं है।
6. ज्ञान का मुक्तावस्था में भी अभाव नहीं होता।
7. ज्ञान आत्मा जितना ही है, आत्मा से किंचित् भी हीन या अधिक नहीं।
8. ज्ञान दर्पण की भाँति मात्र जानता है, अन्य कुछ भी (ग्रहण-त्याग, राग-द्वेष) नहीं करता।
9. जानते समय भी वह समस्त ज्ञेयों को जानता है, किसी एक को भी नहीं छोड़ता।
10. ज्ञान सभी ज्ञेयों को युगपत् जानता है, क्रमशः नहीं।
11. सभी ज्ञेयों में भूत-भविष्यत्-कालीन ज्ञेयों को भी समाहित समझना चाहिए,

मात्र वर्तमानकालीन ज्ञेयों को ही नहीं।

12. ज्ञान को इन्द्रियों एवं प्रकाशादि की भी अपेक्षा वास्तव में नहीं होती।
13. पदार्थ और प्रकाश भी ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि उनके साथ ज्ञान की अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता।
14. ज्ञान ज्ञेयों से उत्पन्न नहीं होता, ज्ञेयों से प्रभावित भी नहीं होता।
15. ज्ञान ज्ञेयों (अर्थ) के आकाररूप भी नहीं परिणमित होता।
16. ज्ञान ज्ञेय को ग्रहण नहीं करता, त्याग नहीं करता, ज्ञेयरूप परिणमित भी नहीं होता, ज्ञेय का कुछ भी भला बुरा नहीं करना।
17. ज्ञान अपने में ही रहकर ज्ञेयों को जानता है, अपने में से निकलकर उन ज्ञेयों के पास जाता नहीं है और उन्हें भी अपने पास नहीं बुलाता है। यद्यपि सबको जानने के कारण ज्ञान को 'सर्वगत' (सर्वव्यापक) भी कहते हैं।
18. ज्ञान ज्ञेयों की अपेक्षा नहीं रखता, ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता।
19. किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञेय हैं ही नहीं, जैसा कि ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं। ज्ञेय हैं अवश्य, किन्तु वे ज्ञान के अधीन नहीं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों की सत्ता स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है, कोई किसी के अधीन नहीं है।
20. ज्ञान को जानने में कोई भार (कष्ट) नहीं लगता, यह तो उसका सहज स्वाभाविक कार्य है —दर्पण के समान।
21. ज्ञान सन्निकर्ष से नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं— सूक्ष्म-आन्तरिक दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, कोई सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, आदि।
22. ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं।
23. ज्ञान सदा पर के साथ स्वयं को भी जानता है, स्व-पर-प्रकाशक है —प्रदीप की भाँति।
24. ज्ञान को मात्र स्वप्रकाशक या मात्र परप्रकाशक मानने में अनेक दोष आते हैं।
25. यद्यपि ज्ञान परज्ञेयों को इसप्रकार जानता है कि ऐसा भी कहा जा सकता है कि वह पर को नहीं जानता, स्व को ही जानता है।
26. ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति ही है, ग्रहण-त्याग-उपेक्षा नहीं। ग्रहण-त्यागादि तो उसका परम्परा फल कहा जाता है।
27. ज्ञान वस्तुतः एक ही प्रकार का है; उसके मति-श्रुत-अवधि आदि, इन्द्रिय-

अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष-परोक्ष, सम्यक्-मिथ्या आदि सभी भेद उपचार से कहे गये हैं। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र में ‘मतिश्रुतावधिमनः पर्याय केवलाणि’ कहकर भी ‘ज्ञानम्’ पद एकवचन में कहा है।

28. ज्ञान वस्तुतः शुद्ध ही होता है। उसमें रागादिजन्य और ज्ञेयकृत —दोनों ही प्रकार की अशुद्धता नहीं आती। रागादि सहित ज्ञान भी वास्तव में रागादि से रहित ही है, क्योंकि दोनों में लक्षणभेद है। इसीप्रकार ज्ञेय-सहित ज्ञान भी वास्तव में ज्ञेय-रहित ही है, अनेक पदार्थ-प्रतिबिम्बित दर्पण की भाँति।
29. ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जैन-आगम-ग्रन्थों में अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं— दर्पण, दीपक, सूर्य, अग्नि, चक्षु, स्फटिक मणि, इन्द्रनील मणि, जपाकुसुम आदि।

यथा— सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमचन्द्रजलानलाः।

आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः॥

—(पंचाध्यायी)

सहायक ग्रन्थ-

1. कसायपाहुड 1/1/1
2. प्रवचनसार, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार
3. समयसार, गाथा 181-183, 204 एवं सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार
4. तत्त्वार्थसूत्र 1/9-33
5. सर्वार्थसिद्धि 1/31
6. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/10, 1/7/14
7. नन्दिसूत्र, 45
8. धवला 1/1/1/1, 1/1/4
9. परीक्षामुखसूत्रम् 1/6-12



“आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।

सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि॥”

—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 204

vFk& मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल— ये सब वास्तव में एक ही पद है और वही परमार्थ है जिसे समझकर आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है।

जैनदर्शन में चेतना एक, नाम अनेक

जैनदर्शन के ग्रन्थों में चेतना का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक समझाया गया है। कह सकते हैं कि जैनागमों का पचास प्रतिशत से अधिक अंश वास्तव में चेतना के ही विवेचन हेतु समर्पित है, उसमें पद-पद पर चेतना के ही विभिन्न रूपों का निरूपण उपलब्ध होता है। यहाँ उसी विषय को कतिपय बिन्दुओं के माध्यम से सरलतापूर्वक लिखने का विनम्र प्रयास किया जाता है।¹

1. चेतन (जीव/आत्मा) का परिणमन या व्यापार ही चेतना है, जिसका स्वरूप ज्योति, दर्पण आदि के समान मात्र प्रतिभासात्मक (नित्य-प्रकाशमय) है।
2. यह चेतना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कृमि, चींटी, भ्रमर, मनुष्य आदि समस्त शरीरधारियों में शरीर से भिन्न एक स्वतन्त्र सत् के रूप में पाई जाती है। किसी एक की चेतना का अन्य की चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है।
3. चेतना को उपयोग, ज्ञान, दर्शन, वेदन आदि अनेक पर्यायवाची नामों से जाना जाता है।
4. यह चेतना यद्यपि मूलतः प्रतिभासात्मक (मात्र जानने रूप) होने से एक ही प्रकार की है, परन्तु कभी विषय के आधार पर, कभी कार्य के आधार पर और कभी कार्यपद्धति के आधार पर उस एक ही चेतना को हजारों नामों से कहा जाता है। कभी यह अपने विषय का निर्णय करती है, कभी परीक्षण करती है, कभी तुलना करती है, कभी जानने/भोगने की इच्छा करती है, कभी पुराना याद करती है, कभी भूल जाती है, इत्यादि; अतः इस आधार पर इसके अनेक नाम पड़ जाते हैं। यथा— धारणा, परीक्षा, प्रत्यभिज्ञा, जिज्ञासा, स्मृति, विस्मृति आदि।
5. इसी प्रकार यह चेतना कभी शब्दों के माध्यम से जानती है, कभी इन्द्रियों के माध्यम से प्रवर्तती है और कभी बिना ही इन्द्रियों की सहायता के प्रवर्तती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम पड़ जाते हैं। यथा— आगमज्ञान,

1. इस सम्बन्ध में मैंने एक अन्य लेख भी पूर्व में लिखा है— ‘जैनदर्शन में ज्ञान मीमांसा।’ उसे भी इसके साथ पढ़ना उपयोगी है।

इन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान आदि। तथा इसमें भी अनेक उपभेद और भी किए जा सकते हैं। जैसे— जब वह स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से प्रवर्तती है तो उसे ‘छूना’ कहते हैं, रसनेन्द्रिय के माध्यम से प्रवर्तती है तो उसे ‘चखना’ कहते हैं, घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से प्रवर्तती है तो उसे ‘सूंघना’ कहते हैं, इत्यादि।

6. इसी प्रकार कभी यह चेतना राग-सहित प्रवर्तती है, कभी द्वेष-सहित प्रवर्तती है और कभी राग-द्वेष दोनों से रहित प्रवर्तती है; अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम हो जाते हैं। यथा— रागात्मक चेतना, द्वेषात्मक चेतना, वीतराग चेतना।
7. यह चेतना कभी सम्यक् निर्णयात्मक होती है और कभी निर्णय-रहित या मिथ्या निर्णयात्मक होती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— प्रमाण एवं अप्रमाण या प्रमाणाभास।
8. जब प्रमाण होती है तब भी कभी पूरी वस्तु को जानती है और कभी उसके एक अंश को, अतः इस आधार पर भी उसके अनेक नाम हो जाते हैं। यथा— प्रमाण, नय।
9. जब अप्रमाण होती है तब भी कभी विरुद्धानेककोटिस्पर्शी होती है, कभी विपरीतैककोटिस्पर्शी होती है और कभी किमित्यालोचनमात्र होती है; अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय।
10. यह चेतना कभी हिंसादि पापभाव संयुक्त होती है, कभी दया-पूजा-व्रतादि रूप पुण्यभाव संयुक्त होती है और कभी पाप-पुण्य के समस्त भावों से रहित रहती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— शुभ चेतना, अशुभ चेतना, शुद्ध चेतना।
11. यह चेतना कभी कर्म करने रूप होती है, कभी कर्मफल भोगने रूप होती है और कभी इन दोनों से भिन्न मात्र जानने रूप होती है; अतः इस आधार पर भी इसके कई नाम/रूप बन जाते हैं। यथा— कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञानचेतना।
12. यह चेतना कभी नाना विकल्पों सहित होती है और कभी समस्त विकल्पों से रहित होती है, अतः इस आधार पर भी इसके अनेक नाम हो जाते हैं। यथा— सविकल्प चेतना, निर्विकल्प चेतना।
13. यही चेतना जब एकाग्रचिन्तानिरोध रूप होती है तो इसे ही ध्यान कहते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेक पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा सकता है और फिर हम कह सकते हैं कि वास्तव में चेतना एक ही है— मात्र प्रतिभासात्मक, किन्तु उपचार से उस एक ही चेतना के हजारों नाम/रूप गिनाये जाते हैं।



अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी : एक संक्षिप्त विवेचन

अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी— इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में लोगों को बड़ा भ्रम रहता है, अतः यहाँ उसे संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

vudkur का अर्थ है— अनेक (अनन्त) धर्मों/गुणों वाली वस्तु। जैनदर्शन के अनुसार सभी वस्तुएँ अनन्त धर्मों/गुणों वाली हैं, अनन्तधर्मात्मक हैं, अतः अनेकान्तस्वरूप हैं। जैनदर्शन को इसीलिए अनेकान्तवादी कहते हैं, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानता है। अनन्तधर्मात्मक का अर्थ भी मात्र इतना ही नहीं है कि उसमें अनन्त धर्म रहते हैं, बल्कि यह है कि उसमें ऐसे अनन्त धर्मयुगल रहते हैं जो परस्पर विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं। यही अनेकान्त है।

L;k}kn का अर्थ है, अनेकान्तात्मक वस्तु को कहने की एक विशेष पद्धति, जिसमें हर एक वाक्य को ‘स्यात्’ लगाकर बोला जाता है, स्याद्वाद कहलाती है। ‘स्यात्’ पद लगाने से कथन में दोष नहीं रहता और समग्र वस्तु-स्वरूप का समीचीन प्रतिपादन हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है और स्याद्वाद उसे कहने की पद्धति/शैली है। दूसरे शब्दों में— अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है, अनेकान्त द्योत्य है और स्याद्वाद द्योतक है।

अब प्रश्न है कि **lrrHkxh** क्या है?

mUkj& अनेकान्त कहता है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं। स्याद्वाद कहता है कि— उन्हें सदा ‘स्यात्’ लगाकर ही कहो, ताकि उस समय उसके अन्य प्रतिपक्षी धर्म भी गौण रूप से प्रतिपादित हो सकें, उनका अभाव न हो जाये। किन्तु सप्तभंग सिद्धान्त और आगे बढ़कर कहता है कि वे प्रत्येक धर्म-युगल भी वास्तव में सात-सात भंग वाले हैं। यद्यपि ‘धर्मयुगल’ कहकर हम उनके मूल भंग दो ही कहते हैं, पर यदि बारीकी में जाएँगे तो उनके सबके ही सात-सात भंग बनेंगे। इसे

ही सप्तभंगी कहते हैं। उदाहरणार्थ— वस्तु में अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि अनन्त धर्मयुगल हैं। इनमें स्याद्वाद तो मात्र इतना कहकर चुप हो जाएगा कि वह स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति है, किन्तु सप्तभंगवाद अभी आगे की जिज्ञासा का भी समाधान करेगा, जो सात प्रकार से होती है। यथा—

- प्रथम भंग — स्यात् अस्ति — वस्तु स्वचतुष्टय से है।
द्वितीय भंग— स्यात् नास्ति — वही वस्तु परचतुष्टय से नहीं है।
तृतीय भंग — स्यात् अस्ति-नास्ति — युगपद् दोनों हैं।
चतुर्थ भंग — स्यात् अवक्तव्य — युगपद् कह नहीं सकते।
पंचम भंग — स्यात् अस्ति-अवक्तव्य — स्वचतुष्टय से अस्ति है, युगपद् कह नहीं सकते।
षष्ठ भंग — स्यात् नास्ति-अवक्तव्य— परचतुष्टय से नास्ति है, युगपद् कह नहीं सकते।
सप्तम भंग — स्यात् अस्ति-नास्ति — अवक्तव्य— क्रमशः कह सकते हैं, युगपद् नहीं कह सकते।

जिसप्रकार यहाँ अस्तित्व-नास्तित्व— इस धर्मयुगल पर सप्तभंगी घटित करके बताई है, उसीप्रकार सभी धर्मयुगलों पर घटित कर लेना चाहिए। यही सप्तभंगी सिद्धान्त है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि सप्तभंगी वस्तुतः कोई अलग सिद्धान्त नहीं है, अपितु स्याद्वाद का ही पूर्ण विस्तार है। स्याद्वाद एक धर्म को उसके एक अपर धर्म के साथ अविरोध भाव से समझाता है, किन्तु सप्तभंगवाद उसे और अधिक खोलकर उसके जो सात आयाम (भंग) बन सकते हैं, उन सबको उनकी अपेक्षा (विवक्षा) समझाते हुए अविरोधभाव से समझाता है।

ध्यान रहे, सप्तभंग सिद्धान्त एक धर्म के सात भंग नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि एक धर्मयुगल के सात भंग प्रस्तुत करता है। स्याद्वाद और सप्तभंग में अन्तर यह है कि स्याद्वाद तो उसके एक अपर पक्ष को दिखाने से ही बन जाता है, परन्तु सप्तभंगवाद उसमें सात भंग मुख्य-गौण विवक्षा से सिद्ध करता है।

i'u& तो फिर प्रत्येक वस्तु में अनन्त सप्तभंगी कैसे कही गई हैं?

mÜkj& प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्मयुगल रहते हैं और सभी की विधि-निषेध रूप मूल दो भंगों से अनन्त सप्तभंगियाँ बन सकती हैं, अतः अनन्त सप्तभंगी कही गई हैं। यही कारण है कि सप्तभंगी को अनेक विद्वानों ने विधि-निषेध-कल्पना

मूलक पद्धति कहा है। आचार्यों ने भी सप्तभंगी की यही परिभाषा दी है—

‘एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेध-
विकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया ।’

—अकलंक, राजवार्तिक 1/6/5

i'u— सप्तभंगी दो प्रकार की कही जाती है— प्रमाण-सप्तभंगी और नय-
सप्तभंगी। उनमें क्या अन्तर है?

mUkj प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी में लगभग वही अंतर है जो
प्रमाण और नय में होता है। प्रमाण पूर्ण वस्तु का ग्राहक होता है और नय उसके
एक देश का। उसी प्रकार जिस सप्तभंगी से पूरी वस्तु का प्रतिपादन किया जाय
उसे प्रमाण-सप्तभंगी कहते हैं और जिस सप्तभंगी से वस्तु के एक देश का
प्रतिपादन किया जाय उसे नय-सप्तभंगी कहते हैं।

उदाहरणार्थ— ‘स्यात् जीवः’— यह प्रमाण-सप्तभंगी का प्रथम भंग कहलायेगा,
क्योंकि यह पूरी वस्तु का प्रतिपादन कर रहा है, किन्तु ‘स्यात् अस्ति’— यह नय-
सप्तभंगी का प्रथम भंग कहलायेगा, क्योंकि यह वस्तु के एक देश का प्रतिपादन
कर रहा है।

i'u ‘स्यात् सत्’— यह प्रमाण-सप्तभंगी का प्रथम भंग है या नय-सप्तभंगी का?

mUkj बहुत अच्छा प्रश्न किया। इसमें लोगों को बड़ा भ्रम होता है। ‘सत्’
शब्द गुणवाचक भी है और द्रव्यवाचक भी। जब द्रव्यवाचक हो तो उसे प्रमाण-
सप्तभंगी समझना चाहिए और जब गुणवाचक हो तो उसे नय-सप्तभंगी समझना
चाहिए।

इस प्रकार अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंग सिद्धान्त का अन्तर संक्षेप में स्पष्ट
किया गया। विशेष जिज्ञासुओं को अन्य बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।



स्याद्वाद : निष्पक्ष विद्वानों की दृष्टि में

जैनदर्शन के ‘स्याद्वाद’ सिद्धान्त की कोई कितनी भी आलोचना करे परन्तु निष्पक्ष चिन्तकों ने तो इसे समीचीन सिद्ध करते हुए इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा ही की है। स्याद्वाद सिद्धान्त है ही ऐसा जो प्रथम दृष्टि में बड़ा अटपटा-सा (असंभव-सा) प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ी गहराई में जाते ही वह सम्पूर्ण व्यवहार एवं परमार्थ का ठोस आधार है— यह भी समझ में आ जाता है। यही कारण है कि जिन्होंने इसे हल्के से लिया, वे इसका मर्म नहीं समझ सके और इसकी आलोचना से स्वयं को ही दूषित कर बैठे, किन्तु जिन्होंने इस पर थोड़ा भी गंभीरतापूर्वक चिन्तन करने का प्रयत्न किया, वे इसकी समीचीनता पर ऐसे मुग्ध हो गये, मानो उन्हें अमृत मिल गया हो।

दरअसल अनेकान्तवाद/स्याद्वाद वस्तु का स्वरूप है और इसे स्वीकार किए बिना और कोई चारा ही नहीं है। संसार के सभी दर्शन, दार्शनिक एवं दर्शनग्रन्थ (शास्त्र) येन-केन-प्रकारेण स्याद्वाद को स्वीकार भी करते ही हैं; परन्तु जिन्हें ‘जैन’ या ‘स्याद्वाद’ शब्द से ही चिढ़ है अथवा जो किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं और इस विषय पर थोड़ी भी निष्पक्षता एवं गंभीरता से सोचना ही नहीं चाहते, उनका क्या किया जा सकता है?

तथापि हम तो पवित्र भाव से यही प्रयत्न करते रहना चाहते हैं कि सभी लोग निष्पक्षतापूर्वक इस स्याद्वाद सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न करें और इससे लाभान्वित हों। जो सच्चे दार्शनिक/चिन्तक होंगे अथवा जिनकी भली होनहार होगी वे तो समझेंगे ही। यहाँ हम इसी पवित्र भावना से दुनिया भर के कुछ निष्पक्ष चिन्तकों के विचार, जो उन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं, प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि इन्हें पढ़कर हमारे कुछ मित्र अपना पूर्वाग्रह छोड़कर ‘स्याद्वाद’ को ठीक से समझने का प्रयत्न कर सकें तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

Mk- I r h'kpUæ p êk i k ; k ; एवं **Mk- /khjUæ ekgu** दत्त संयुक्त रूप से लिखते हैं— “स्याद्वादी होने के कारण जैनमत के सम्बन्ध में एक भ्रम उत्पन्न हो गया है। इसे कुछ लोग संशयवाद (Scepticism) या अज्ञेयवाद (Agnosticism) मानते

हैं। इसकी तुलना ग्रीक दार्शनिक पीरो (Pyrrho) के संशयवाद से की जाती है, क्योंकि पीरो के अनुसार भी वाक्यों के पहले ‘शायद’ (May be) का प्रयोग आवश्यक समझा जाता था, किन्तु यथार्थ में जैन संशयवादी नहीं है। ‘स्यात्’ शब्द के प्रयोग से किसी वाक्य से उसकी असत्यता या संदिग्धता का बोध नहीं कराया जाता है, बल्कि उसकी सापेक्षता का संकेत किया जाता है। परिस्थिति तथा विचार-प्रसंग के अनुसार परामर्श अवश्य ही सत्य होता है— इसे जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद समझना ठीक नहीं है।¹

Mk- pʌæ/kj 'lek] पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय लिखते हैं— अन्य भारतीय दार्शनिकों ने ‘स्यात्’ पद का साधारण अर्थ ‘शायद’ या सम्भवतः मानकर स्याद्वाद की संशयवाद के रूप में कटु आलोचना की है। बौद्धों और वेदान्तियों ने स्याद्वाद को संशयवाद या संभावनावाद कहकर इसे ‘पागलों का प्रलाप’ बताया है।²..... किन्तु स्याद्वाद की यह आलोचना सही नहीं है, क्योंकि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, अपितु सापेक्षवाद है। पुनः स्याद्वाद यह नहीं कहता कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म एक ही दृष्टि से, एक ही अर्थ में रहते हैं।..... द्रव्य दृष्टि से वस्तु में एकता, नित्यता आदि का और पर्याय दृष्टि से अनेकता, अनित्यता आदि का सापेक्षतया विधान किया जाता है। स्वद्रव्य-रूप-देश-काल की दृष्टि से वस्तु की सत्ता का और परद्रव्य-रूप-देश-काल की दृष्टि से वस्तु की असत्ता का सापेक्षतया विधान किया जाता है, अतः स्याद्वाद में विरोध नहीं है।³

भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान् **okpLifr xjkyk** लिखते हैं— जैनों के ‘अनेकान्त’ को कुछ आस्तिक दर्शनों में छल की संज्ञा दी गयी है; किन्तु यह ठीक नहीं है। छल के सिद्धान्त में एक ही शब्द के दो अर्थ माने जाते हैं, जो अनेकान्तवाद की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। एक पदार्थ को एक दृष्टि से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार करना और उसी को दूसरी दृष्टि (अपेक्षा) से देखकर उसका अस्तित्व स्वीकार न करना—एक शब्द के दो अर्थ नहीं हैं, जैसा कि छल में होता है। वह तो व्यापक सिद्धान्तों एवं विचारों पर आधारित है। अतः अनेकान्तवाद को छल नहीं कहा जा सकता है। अनेकान्तवाद, संशय का हेतु भी नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी नय में समझाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि हम चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनों के तात्त्विक विवेचन तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को देखते हैं तो हमें विश्वास

होता है कि जैनों का अनेकान्तवाद कुछ ऐसा गढ़ा हुआ सिद्धान्त नहीं है, जिसमें जैन दर्शन की वैयक्तिक दृष्टि का आभास मिलता हो। वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।⁴

राष्ट्रपिता **egkRek xk/kh** लिखते हैं— मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं, कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोलकर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा—इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।⁵

Jh exyno 'kkL=h (प्राचार्य संस्कृत कालेज, वाराणसी) लिखते हैं कि— **पाणिनि सूत्र अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः** (पा. 4/4/30) के अनुसार जैनदर्शन आस्तिक दर्शन में ही परिगणित होता है। जैनदर्शन का अनेकान्त तो उसका आधार स्तम्भ है ही, परन्तु परमार्थतः प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए क्योंकि स्वभावतः प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता होनी ही चाहिए। नैतिक उत्कर्ष के साथ व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अनेकान्त दर्शन जैन दर्शन की महान् देन है।⁶

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के दर्शनशास्त्र-विभागाध्यक्ष **ik- Qf. khk" k. k vf/kdkjh** लिखते हैं— जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए अवश्य क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने की परवाह नहीं की।⁷

महामहोपाध्याय **i- Lokeh jkefeJ 'kkL=h** प्रोफेसर, संस्कृत कॉलेज, वाराणसी कहते हैं— मैं कहाँ तक कहूँ बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे देख-सुन हँसी आती है। स्याद्वाद यह जैनधर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के

मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते। जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्वसत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।⁸

विख्यात समालोचक **vkpk;| egkohji|kn f}onh]** भूतपूर्व सम्पादक सरस्वतीश प्रयाग कहते हैं— प्राचीन दर्जे के हिन्दू-धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को, जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की और भारतवर्ष के इतर जैनों का ध्यान आकृष्ट हुआ यदि वे विदेशी विद्वान् जैनधर्म-ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबते रहते।⁹

Mk- lEi.kkuUn कहते हैं— अनेकान्तवाद या सप्तभंगीन्याय जैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् सात में भी कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को वह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिए एक ही समय में 'है' और 'नहीं' दोनों बातें कैसी कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है।¹⁰

Mk- ,l-oh- fu;kxh] भूतपूर्व चीफ जस्टिस तथा उपकुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर कहते हैं— जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Revelation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया, जिसके कारण मानव-इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है।.....स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है; कारण, वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे।¹¹

Mk- xxki|kn >k, प्रयाग विश्वविद्यालय कहते हैं— जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ, उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।¹²

ik- vkuŋ'kdj ckcHkbb /ko, कहते हैं— महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व को किस रीति से अवलोकन करना चाहिए? यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।¹³

jke/kjhf lg 'fnudj' कहते हैं— इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।¹⁴

Jhen jk; plæ कहते हैं— सब धर्मों में एक परमतत्त्व का ही गुणगान है, और सब दर्शनों ने भिन्न-भिन्न शैली से उस परमतत्त्व का विवेचन किया है, परन्तु स्याद्वाद शैली संपूर्ण एवं यथार्थ है।¹⁵

जर्मन के महान् वैज्ञानिक **vYcV vkbULVhu** कहते हैं कि— हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं। वस्तु के समग्र सत्यांशों को विश्वद्रष्टा ही जान सकता है। कारण कि वस्तु में अनेक गुण रहते हैं और वे स्याद्वाद से ही अल्पज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं।¹⁶

अमेरिकी वैज्ञानिक **ik- Mk- vkpicā** लिखते हैं कि— अनेकान्त जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसको पश्चिमी वैज्ञानिकों तथा हिन्दू तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्यरूप से ही नहीं स्वीकृत किया गया है किन्तु उसको भौतिक एकता या समझौते द्वारा विश्वशान्ति के लिए भी प्रमुख सिद्धान्त माना गया है।¹⁷

जर्मनी के विद्वान् **geu t'dkch** ने लिखा है कि— जैनदर्शन के सिद्धान्त प्राचीन तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके स्याद्वाद नामक सिद्धान्त से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।¹⁸

Mk- Fkke I प्रधान ग्रंथपाल, इंडिया ऑफिस, लन्दन लिखते हैं कि— न्यायशास्त्रों में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। उसमें स्याद्वाद वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।¹⁹

ग्रीक दर्शन में **,fyvfVDI** और **gjfdyV I** नामक विचारकों के बाद ईसा से 495 वर्ष पूर्व **,EihMkDyh t]**, **VkfeLV I vuDI kxkj I** नामक दार्शनिकों का युग था। इन तत्त्वचिन्तकों ने एलिअटिक्स के एकान्त नित्यवाद और हेरेक्लिट्स के एकान्त क्षणिकवाद का समन्वय करके दोनों सिद्धान्तों को नित्यानित्य रूप में ही स्वीकार किया। इनके मतानुसार सर्वथा नित्यवाद तथा सर्वथा क्षणिकवाद असम्भव है।²⁰

अब हम ग्रीस के प्रतिभाशाली कवि तथा दार्शनिक **lyVκ** के विचारों की ओर जाते हैं। सोफिस्ट नामक संवाद में एलिमा का मुसाफिर कहता है— जब हम असत्य के विषय में कुछ कहते हैं तो इसका मतलब सत् से विरुद्ध (सर्वथा असत्) न होकर केवल सत् से भिन्न होता है।²¹

जर्मन विद्वान् **ghxy** कहते हैं विरुद्ध धर्मात्मकता ही सब वस्तुओं का मूल है।

cMy कहते हैं कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखी जाने पर किसी अपेक्षा से आवश्यक तथा किसी अपेक्षा से अनावश्यक दोनों रूप सिद्ध होती है।²²

ik- t- vfpe ‘सत्य का स्वरूप’ नामक पुस्तक में लिखते हैं कि कोई भी विचार स्वतः ही दूसरे विचार से सर्वथा अनपेक्षित होकर, केवल अपनी अपेक्षा से सत्य नहीं कहा जा सकता।²³

ik- iVh के अनुसार यह विश्व किसी अपेक्षा से नित्य है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। यह नित्यानित्यात्मकता का सिद्धान्त संसार की छोटी से छोटी वस्तु में भी लागू होता है।²⁴

यूनान के दार्शनिक **Idjkr] vQykr]** तथा **vjLr]** ने भी अपने विचारों के प्रतिपादन में ज्ञात भाव अथवा अज्ञात भाव से अनेकान्त का कथन किया ही है। सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता का, अल्पज्ञता का पूरा परिज्ञान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहा करता था कि मैं ज्ञानी हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे लोग ज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे अज्ञ हैं। यह कथन अनेकान्त के अनुरूप है।²⁵

सुकरात के शिष्य अफलातूँ ने कहा था कि हम लोग सागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चों के समान हैं जो अपनी सीपियों से सागर के अथाह जल को नापना चाहते हैं। यह सत्य है कि हम सीपियों से पानी भर-भर कर कभी उसे खाली नहीं कर सकते। फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों से जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं, वह उस महासागर का ही एक अंश है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। अफलातूँ का यह कथन अनेकान्त तथा स्याद्वाद के अत्यन्त निकट है।²⁶

fey के अनुसार विधि (अस्ति) दर्शन में नागर (सिविल) शब्द का उच्चारण करने पर ही अपराधी, सैनिक, राजनीतिक तथा धर्मशास्त्रीय अर्थों का निषेध (नास्ति) हो जाता है। **Fkel dEicy** सुस्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मनुष्य इसलिए है (अस्ति) कि वह पत्थर, सिंह, गर्दभ आदि नहीं (नास्ति) है। यह कथन स्याद्वाद-अनेकान्त के निकट है तथा इसी कारण सर्वसंकर दोष का नाशक एवं अर्थक्रियाकारित्व का उत्पादक है।²⁷

दार्शनिक **vjLr** के मत में समस्त परिवर्तन (अनित्यता) के लिए एकरूपता (नित्यता.स्थिरता) को स्वीकार करना आवश्यक है। समस्त परिवर्तन के अन्दर कुछ स्थायी तत्त्व अवश्य रहना चाहिए जिसके अन्दर परिवर्तन हो सके। बिना स्थायी तत्त्व को स्वीकार किए परिवर्तन (अस्थायिता) हो सके— यह हमें प्रतीत नहीं होता।²⁸

dk.V भी स्यात् नित्य स्यात् अनित्य स्वीकार करते हैं। ‘सेकण्ड एनोलोजी ऑफ एक्सपीरियेंस’ में वे कहते हैं कि बिना स्थिर सत्ता के, काल के सम्बन्ध सम्भव नहीं है। ‘क’ के पीछे ‘ख’ आने का तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व कि ख प्रारम्भ हो, ‘क’ समाप्त हो चुका। उनके बीच का सम्बन्ध जिसे हम अनुक्रम के नाम से पुकारते हैं, न तो ‘क’ के लिए और न ‘ख’ के लिए ही रह सकता है; किन्तु एक ऐसी वस्तु के लिए अवश्य रह सकता है जो दोनों के लिए एक समान उपस्थित हो। यदि एक-दूसरे के पीछे आने वाली घटनाओं के अतिरिक्त इस संसार में और कुछ न हो — अर्थात् ‘ख’ के प्रारम्भ होने से पूर्व ‘क’ का विलोप हो जाना एवं इससे पूर्व कि ‘ग’ का प्रारम्भ हो, ‘ख’ का विलुप्त हो जाना आदि-आदि, तो इस प्रकार का कोई सिलसिला नहीं बैठ सकता। किसी भी सिलसिले का सम्भव होना उपलक्षित करता है कि एक सापेक्ष स्थिर तत्त्व अवश्य है।²⁹

इस प्रकार अनेक निष्पक्ष चिन्तकों ने स्याद्वाद-अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है और उसकी भूरि-भूरि सराहना भी की है।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 55 (पुस्तक भंडार, पटना, सितम्बर 1964)
2. प्रमाणवार्तिक 1/182-185; तत्त्वसंग्रह 311-327; शांकरभाष्य 2/2/33
3. भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन, पृष्ठ 36
4. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 114
5. तीर्थकर वर्द्धमान (आचार्य विद्यानन्द), पृष्ठ 84
6. जैनदर्शन, प्राक्कथन, पृष्ठ 14 से 17 (गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)
- 7-13. तीर्थकर वर्द्धमान महावीर (पद्मचन्द्र शास्त्री), पृष्ठ 111 से 113
14. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
15. श्रीमद् राजचंद्र, भाग 1, पृष्ठ 245
16. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249
17. आचार्य शिवसागर स्मृतिग्रन्थ, पृष्ठ 546-47
- 18-29. स्याद्वाद (पं. जवाहरलाल शास्त्री), पृष्ठ 249 से 251



जैन विद्या के छात्रों को निर्देश

काल पका है कि आज जैन विद्या के अनेक विद्यालय, महाविद्यालय खुले हैं और उनमें से हजारों की संख्या में विद्वान् तैयार होकर निकल रहे हैं। लगभग सभी विद्वान् बहुत अच्छे हैं। उनमें जैन तत्त्वज्ञान की गहरी रुचि भी पाई जाती है और वे अच्छे वक्ता भी हैं। उनके निमित्त से जैन विद्या का बहुत प्रचार-प्रसार हो रहा है। यह सब बड़े ही हर्ष और संतोष का विषय है।

किन्तु फिर भी उन विद्वानों को कुछ निर्देश देने का बहुत भाव आ रहा है, ताकि वे राष्ट्रिय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित होकर इस क्षेत्र में और भी अच्छा, ठोस कार्य कर सकें।

कुछ विद्वान् छात्र आजीविका की दृष्टि से भी बहुत चिंतित दिखाई देते हैं। मैं समझता हूँ कि यदि वे इन निर्देशों पर ध्यान देंगे तो उनकी इस समस्या का भी समाधान हो जाएगा। जैन विद्या के क्षेत्र में आज भी बहुत काम है, बस करनेवाला चाहिए।

बहरहाल, वे निर्देश कुछ इस प्रकार हैं—

1. अपने ज्ञान को बहुत व्यापक बनाएं। जैन विद्या बहुत व्यापक है, आपका ज्ञान भी बहुत व्यापक होना चाहिए। भाषा, व्याकरण, कोश, जैनेतर दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, काव्यशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।
2. अध्ययन प्रतिदिन अवश्य करें। न केवल अध्ययन करें, प्रतिदिन एक-दो श्लोक, गाथा, लक्षण, परिभाषा आदि कंठस्थ भी अवश्य करें। जिसे लक्षण, भेद-प्रभेद आदि कंठस्थ हों, वही किसी विषय का ठीक से प्रतिपादन कर सकता है।
3. प्रतिदिन घंटे-आध घंटे कुछ लोगों को पढ़ाने का कार्य भी अवश्य करना चाहिए। इससे विषय का ज्ञान और उसके प्रतिपादन का तरीका — दोनों ही बहुत निर्मल और व्यवस्थित होते हैं। (Teaching is the best way of learning)
4. अध्ययन से भी अधिक अधीत विषय का चिन्तन-मनन करें, तभी वह आत्मसात् होता है। अन्न को खाना ही नहीं, पचाना भी जरूरी होता है।

5. बहुत अच्छा लेखक बनने का अभ्यास भी अवश्य करना चाहिए। स्तरीय शोध-पत्रिकाओं में आपके शोध-पत्र प्रकाशित होने चाहिए।
6. संगोष्ठी-सम्मेलनों में जाकर पत्रवाचन या परिचर्चा करके सक्रिय सहभागिता करनी चाहिए।
7. राष्ट्रिय-अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर सीमित समय में (संक्षेप में) अपनी बात कहने में कुशलता हासिल करनी चाहिए। वक्तृत्व-कला और सभाशास्त्र पर भी कुछ पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए।
8. विविध पत्र-पत्रिकाओं का भी अवलोकन करना चाहिए। न केवल अवलोकन करना चाहिए, यदि उनमें कुछ बहुत अच्छा या बहुत गलत छपा हो तो थोड़ी प्रतिक्रिया भी अवश्य लिखनी चाहिए।
9. अंग्रेजी भाषा और कंप्यूटर के प्रयोग में भी दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। आधुनिक युग में कंप्यूटर की सहायता से अपने व्याख्यान को बहुत प्रभावशाली बनाया जा सकता है।
10. हिंदी, अंग्रेजी और संस्कृत – कम से कम इन तीन भाषाओं में तो धाराप्रवाह रूप से लिखना-बोलना आना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त एक प्राकृत भाषा भी बहुत अच्छी आनी चाहिए, क्योंकि वही तो जैन आगमों की मूल भाषा है। उसके बिना कैसी श्रुतभक्ति?
11. समकालीन वातावरण और समस्याओं के प्रति भी जागरूक होना चाहिए और उनके समाधान भी – जैनदर्शन के आलोक में – आपके पास अवश्य होने चाहिए। सभी पूर्वाचार्यों में ऐसी समकालीन युगचेतना पाई जाती थी। जैनदर्शन सदा ही समसामयिक एवं प्रासंगिक रहा है।
12. अपना दृष्टिकोण अत्यंत उदार रखें, किसी की निंदा-आलोचना में बहुत न उलझें। परिष्कार करो, बहिष्कार नहीं – की नीति पर चलें। स्याद्वादरूप जिनवाणी में 'सर्वथा' कहीं नहीं है। सभी पूर्वाचार्यों ने भी किसी के खंडन पर नहीं, अपितु खंडन के खंडन पर ही अधिक ध्यान दिया है, कथन की विवक्षा समझाने पर ही अधिक ध्यान दिया है।
13. अप्रयोजनभूत बातों में भी बहुत न उलझें। मूल तत्त्वज्ञान को ही ठीक से समझने-समझाने में ऊर्जा लगाएं। आज के वैज्ञानिक युग का लाभ उठाएं। सामाजिक मुद्दों को भी गौण ही रखें, मुख्यता तो दार्शनिक विषयों की ही रहनी चाहिए। यही जैन विद्वान् का असली कार्य है।
14. अच्छे विद्वानों की खूब सेवा-संगति करें। उनके प्रति अत्यधिक विनय भाव रखें। उनसे चर्चा-परिचर्चा भी खूब करें। उन सबके गुण ग्रहण करके स्वयं

को समृद्ध बनाएं।

15. अपने स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखें। आहार-विहार उचित ही होना चाहिए। अनुचित आहार-विहार कथमपि न करें। (long seating, bad posture, study in dim light, fast food)
16. अनुशासन या समय-पालन का बहुत अधिक ध्यान रखें। समय का उल्लंघन व्यक्ति को कभी सफल नहीं होने देता। समय से पूर्व पहुंचने वाला व्यक्ति आधा तो इसी से सफल हो जाता है।
17. वस्त्र भी ठीक ही पहनने चाहिए। खासकर सभा में तो अच्छे ही वस्त्र पहनने चाहिए।
18. ईर्ष्या, लालच, कपट, अहंकार, दैन्य, प्रमाद, विषाद आदि दुर्भावों से स्वयं को दूर रखें। करुणा, सेवा, वात्सल्य, परोपकार, प्रसाद एवं परिश्रम आदि उत्तम गुणों को बढ़ाएं।
19. व्यक्तिवाद, जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, पंथवाद आदि सर्व संकीर्णताओं से दूर रहें। किसी भी एक ग्रुप के बनकर न रहें।
20. किसी की भी निंदा या प्रशंसा करना विद्वान् का कार्य नहीं है। उसे तो सर्वत्र 'समीक्षा' ही प्रस्तुत करनी चाहिए।
21. आजीविका की बहुत अधिक चिंता न करें, स्वयं के कर्मोदय को शांति से सहन करें। बहुत चिंता करने से या जगह-जगह दीन होकर मांगते रहने से आजीविका नहीं मिलती। काल पकेगा तब सहज मिलेगी। आजीविका वास्तव में धन से नहीं, ज्ञान से चलती है — इस रहस्य को भी समझें। हमें जिनवाणी रूपी अद्भुत धन मिला, उससे अधिक और क्या चाहिए? तथा कुछ पुरुषार्थी तो ऐसे होते हैं कि रोजगार मांगते नहीं, पैदा करते हैं — इस बात पर भी विचार करें। तथा अपनी योग्यता भी बढ़ावें, प्रायः योग्यता की कमी से ही रोजगार नहीं मिलता।
22. औपचारिक शिक्षा जल्दी से न छोड़ दें, उसे निरंतर जारी रखें। शास्त्री क्या, आचार्य तक की शिक्षा भी पर्याप्त नहीं है। एम.फिल., पी-एच. डी. करना भी बहुत जरूरी है। आचार्य—एम.ए. भी यदि तीन-चार विषयों में हो जाए तो अच्छा है। बी.एड. करना भी उपयोगी है।
23. आजीविका नहीं मिल रही — यह सोचकर जल्दी से किसी दुकान-व्यापारादि के कार्य में नहीं उलझ जाना चाहिए, क्योंकि बाद में उसमें से निकलकर शिक्षा के क्षेत्र में लगना बहुत कठिन हो जाता है।
24. आपके पास अपना एक व्यवस्थित बायोडाटा भी होना चाहिए।

25. विविध शास्त्रों का अभ्यास एवं आजीविकादि कार्य करते हुए भी अपने अन्तरंग में अध्यात्मविद्या को सर्वोपरि स्थान पर रखें, अन्यथा आत्महित के मुख्य लक्ष्य से भटक जाने की सम्भावना है। वैसे भी भारतवर्ष की समस्त विद्याओं का पर्यवसान अध्यात्म में ही होता है। चतुर व्यक्ति 'आदहिदं कादव्वं...' का कुतुबनुमा सदैव अपने हाथ में रखते हैं।
26. सदा प्रसन्न रहें, कभी दुखी न हों। चिंता चिंता से भी बुरी होती है।
27. परिश्रम खूब करें, श्रमण संस्कृति के उपासक होकर श्रम से न घबराएं।
28. प्रमाद से दूर रहें। आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो ?????
29. ज्ञानाराधना से बहुत गहरा अनुराग रखें, उसी में सदा संतुष्ट और संतृप्त रहें।
30. कभी भी किसी अन्य धर्म, जाति, समाज, देश आदि की निंदा न करें।
31. जैनेतर साहित्य एवं संस्कृति का भी थोड़ा परिचय अवश्य प्राप्त करें।
32. जैनेतर विद्वानों से भी मधुर सम्बन्ध बनाकर रखें। उनसे विद्वेष भाव न रखें। उनसे भी ज्ञानचर्चा करके बहुत लाभ उठाया जा सकता है।
33. भारतीय संविधान में आस्था रखें। शासन के विरुद्ध आचरण न करें।



दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः

‘दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः’¹— यह उक्ति मैंने आचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज के श्रीमुख से शताधिक बार सुनी है। यह एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण उक्ति है।

इस उक्ति का हिन्दी-सरलार्थ यह है कि दृष्टान्त का प्रयोग करने पर कोई भी विषय सहज ही सबकी बुद्धि में स्पष्ट हो जाता है।

अनेक बार हमें ऐसा अनुभव होता है कि कोई विषय बहुत प्रयत्न करने पर भी हमारी समझ में नहीं आ रहा होता, किन्तु अचानक ही किसी समीचीन दृष्टान्त का प्रयोग होने पर वह विषय एकदम ‘हस्तामलकवत्’ स्पष्ट हो जाता है, उसमें तनिक भी कोई शंका नहीं रह जाती। बस, इसे ही कहते हैं— ‘दृष्टान्ते स्फुटायते मतिः’।

प्रतिपाद्य विषय को रोचक, सुस्पष्ट एवं सुग्राह्य बनाने के लिए दृष्टान्त की महती उपयोगिता सभी मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार की है। यद्यपि न्याय-ग्रन्थों में दृष्टान्त को अनुमान का अंग मानने का सख्त निषेध किया गया है² तथापि वहाँ भी बालव्युत्पत्ति के लिए दृष्टान्त-प्रयोग का महत्त्व असाधारण रूप से स्वीकार किया गया है।³

तत्त्वज्ञान हेतु दृष्टान्त की इसी महती भूमिका का अनुभव करते हुए कुन्दकुन्दादि सभी पूर्वाचार्यों ने दृष्टान्तों के सुन्दर-सुन्दर प्रयोग किये हैं। ये प्रयोग सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी कठिन से कठिन सिद्धान्त को सुगमता से हृदयंगम करा देते हैं।

पूज्य आचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज भी दृष्टान्तों के बड़े प्रेमी हैं। जैनदर्शन के गूढ़ विषयों को सुगमतापूर्वक समझाने के लिए उनके पास बड़े ही रोचक एवं सटीक दृष्टान्तों का भण्डार है। आचार्यश्री के दृष्टान्त कभी भी हल्के स्तर के नहीं होते। बहुत ही संक्षेप में बहुत ही अच्छे दृष्टान्त द्वारा अपनी बात कहने की कला

1. आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूड़ामणि, 1/86

2. ‘एतद्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्’। —आचार्य माणिक्यनन्दि, परीक्षामुखसूत्र 3/33

3. परीक्षामुखसूत्र 3/42, न्यायदीपिका 3/38

आचार्यश्री की अपनी अनूठी ही है।

मैं आज यहाँ आचार्यश्री के प्रिय दृष्टान्तों में से कुछ दृष्टान्तों को सिद्धान्त-सहित स्व-पर-हिताय लिख रहा हूँ—

1- bl yMM e ,d cñ fo"k g&

आचार्य कुन्दकुन्द रचित ‘समयसार’ की 201वीं गाथा में कहा गया है कि जिसे परमाणु मात्र भी राग है, वह चाहे सर्वागमधर हो, फिर भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। यथा—

“परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।

ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥ 201 ॥”

अर्थात् जिस जीव के परमाणुमात्र — लेशमात्र भी रागादिक विद्यमान है वह भले ही सर्वागम का धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो, तथापि आत्मा को नहीं जानता।

इसे इस दृष्टान्त से अच्छी तरह समझा जा सकता है—

एक व्यक्ति ने हमें बहुत पौष्टिक और स्वादिष्ट लड्डू खाने के लिए दिया। उसने उसका खूब वर्णन भी किया— इसमें बादाम भी डाले हैं, पिस्ता भी और मगज भी, इसमें अत्यन्त शुद्ध घी भी बहुत मात्रा में डाला है; इत्यादि-इत्यादि। किन्तु जैसे ही हम लालायित होकर उस लड्डू को खाने को तैयार हुए, उसने धीरे से कहा कि इसमें एक बूँद विष भी मिलाया है।

आप बताइए— क्या वह लड्डू आपसे खाया जा सकेगा? नहीं, कदापि नहीं।

जिस प्रकार एक बूँद भी विष हो तो पिस्ता-बादाम-घी आदि पौष्टिक वस्तुओं से युक्त होने पर भी वह लड्डू अभक्ष्य है, त्याज्य है; उसी प्रकार जिसकी श्रद्धा में परमाणु मात्र भी विपरीतता हो, मिथ्यात्वसहित राग हो, वह सर्व आगम का पाठी होते हुए भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

2- NkVñ-I k jRu vkj cMk Hkkjh feêh dk <yk&

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं—

“णाणुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते ।

तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ 205 ॥”

अर्थात् ज्ञानगुण से रहित बहुत से लोग इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं कर पाते, इसीलिए हे भव्य! यदि तू कर्मों से सर्वथा मुक्ति चाहता हो तो इस ज्ञान को ग्रहण कर।

इसके लिए दृष्टान्त इसप्रकार है— एक बार समुद्र के किनारे पड़े एक बड़े

भारी मिट्टी के ढेले और एक छोटे से रत्न में प्रतियोगिता ठन गई कि चलो देखें, इस समुद्र की गहराई को हम में से कौन नापता है। यद्यपि रत्न ने रागद्वेष-जनक प्रतियोगिता से बहुत बचना चाहा, पर मिट्टी के ढेले को अपनी विशालता का दुरभिमान था।

जब वे दोनों समुद्र की गहराई नापने के लिए जल में प्रविष्ट हुये तो मिट्टी का विशाल ढेला तो दो मीटर भी नीचे नहीं उतर सका, पिघल गया, किन्तु वह छोटा-सा रत्न सीधा समुद्र-तल में पहुँच गया।

जिस प्रकार मिट्टी का ढेला बड़ा भारी होकर भी समुद्र-स्वभाव को नहीं नाप सकता और रत्न छोटा होते हुए भी समुद्र-तल में जा पहुँचता है, उसी प्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड अधिक हो तो भी उससे आत्मस्वभाव की प्राप्ति नहीं की जा सकती और सहजज्ञान अल्प हो तो भी उससे आत्मस्वभाव की प्राप्ति हो जाती है।

3- ɪry l rkj e vud ok | - ; = k dh /ofu ; k &

‘पंचास्तिकायसंग्रह’ की 7वीं गाथा में कहा है कि सभी द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अपने में अवकाश देते हैं, परस्पर सदा मिल भी जाते हैं, परन्तु कभी भी अपने निज स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। यथा—

“अण्णोणं पविसंता दिता ओगासमण्णमणस्स ।

मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥”

इसका दृष्टान्त इसप्रकार है—

समझ लो कि एक संगीत का कार्यक्रम चल रहा है। उसमें कोई गायक एक भजन गा रहा है और अनेक संगीतकार अपने-अपने वाद्ययन्त्रों को बजाते हुए उसे मंच पर प्रस्तुत कर रहे हैं। वहाँ माइक से लाउडस्पीकर तक एक पतला-सा बिजली का तार है। बीसों वाद्ययन्त्रों की ध्वनियाँ इस एक पतले-से तार में प्रवेश कर रही हैं, एक-दूसरे में मिल भी रही हैं; परन्तु ध्यान से देखिए— कोई भी ध्वनि वास्तव में अपना निज स्वभाव नहीं छोड़ रही है। श्रोता स्पष्ट समझ रहे हैं कि यह हारमोनियम है, यह बांसुरी है, यह ढोलक है, यह गिटार है, यह पायल है, इत्यादि।

जिस प्रकार अनेक वाद्ययन्त्रों की ध्वनियाँ एक तार में प्रवेश करती हैं, एक-दूसरे को अवकाश देती हैं और परस्पर मिलती भी हैं, परन्तु फिर भी अपना-अपना निज स्वभाव नहीं छोड़ती हैं; उसी प्रकार ये सभी द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं और परस्पर मिलते भी हैं, परन्तु फिर भी अपना-अपना निज स्वभाव कभी नहीं छोड़ते हैं।

4- i kiM d l k g &

शास्त्रों में पाँच इन्द्रिय के विषयों को अलग-अलग अनेक दृष्टान्त देकर

समझाया गया है, परन्तु उन पाँचों को पापड़ के एक ही दृष्टान्त से भी भलीभाँति समझा जा सकता है। यथा—

समझ लीजिए कि हम एक पापड़ खा रहे हैं। वह स्पर्शान्द्रिय की दृष्टि से कुरकुरा-सा या खुरदरा-सा है, रसान्द्रिय की दृष्टि से स्वादिष्ट है, घ्राणान्द्रिय की दृष्टि से खुशबूदार है, चक्षु इन्द्रिय की दृष्टि से पीला-पीला है और कर्णान्द्रिय की दृष्टि से उसमें चटर-पटर की भी आवाज आ रही है।

इस प्रकार पापड़ के एक ही दृष्टान्त से भी पाँचों इन्द्रियों के विषय-ज्ञान को आसानी से समझा-समझाया जा सकता है।

5- jfM;k ljuuk dc lEHko g&

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य के होने में पंच समवाय का होना जरूरी है। यथा— स्वभाव, काललब्धि, भवितव्यता, निमित्त और पुरुषार्थ।

इसे हम इस दृष्टान्त से अच्छी तरह समझ सकते हैं— मान लीजिए हम रेडियो सुनना चाहते हैं, परन्तु हमारे पास रेडियो ही नहीं है तो कैसे सुनेंगे? यदि रेडियो है भी, पर बिजली नहीं आ रही है तो कैसे सुनेंगे? रेडियो भी है और बिजली भी आ रही है, परन्तु अभी रेडियो स्टेशन ही नहीं खुला है तो हम कैसे सुनेंगे?

रेडियो भी है, बिजली भी आ रही है, रेडियो स्टेशन भी खुल गया है, पर हमने सही सुई नहीं मिलाई है, स्टेशन ठीक से नहीं लगाया है तो भी कैसे सुन सकेंगे? यदि रेडियो भी है, बिजली भी आ रही है, रेडियो स्टेशन भी खुला है, हमने सुई भी ठीक से मिलाई है, पर हमारे कान ही ठीक नहीं हैं, हम बहरे हैं तो कैसे सुनेंगे?

इस प्रकार, जैसे रेडियो सुनना तभी सम्भव होता है जब उक्त सभी बातें एक साथ मिल जाएँ, एक भी कम हो तो रेडियो नहीं सुना जा सकता; उसी प्रकार कोई भी कार्य तभी सम्भव है जब निमित्त, भवितव्यता, काललब्धि, पुरुषार्थ और स्वभाव— ये पाँचों समवाय मिल जाएँ।

6- jkVh rHkh Qyrh g&

आत्मशुद्धि-हेतु बहिरंग और अंतरंग— दोनों प्रकार के तप आवश्यक हैं। मात्र बहिरंग या अंतरंग तप ही पर्याप्त नहीं है। उदाहरणार्थ— रोटी तभी फूलती है जब वह बहिरंग-अंतरंग दोनों ओर से ताप प्राप्त करे, मात्र बहिरंग या मात्र अंतरंग ताप से वह नहीं फूल सकती। अंतरंग ताप के बिना मात्र बहिरंग ताप से वह जल जाती है और बहिरंग ताप के बिना अंतरंग ताप उसे प्राप्त ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार बहिरंग तप के बिना अंतरंग तप हो नहीं सकता और अंतरंग तप के बिना बहिरंग तप मात्र कायक्लेश बनकर रह जाता है।

7- .kekdkj eU= d tki l vl[; dek dh fut;jk d l gkrh g&

शास्त्रों में कहा गया है कि णमोकार मन्त्र के जाप से हमारे असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। लोग पूछते रहते हैं कि ऐसा कैसे होता है और प्रायः हम सभी उत्तर देते रहते हैं कि शास्त्रों में ऐसा ही लिखा है, परन्तु आचार्यश्री इस बात को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा आसानी से सब के गले उतार देते हैं—

जिस प्रकार एक वृक्ष पर एक हजार कौए बैठे हों और कोई बालक उन पर एक छोटा-सा पत्थर फेंके तो उससे वे एक हजार कौए एक साथ उड़ जाते हैं; उसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

अथवा, जिस प्रकार सैंकड़ों सज्जनों की सभा में कोई अशिष्ट व्यक्ति गालियाँ सुनाने लग जाए तो सभी सज्जन वहाँ से उठकर चले जाते हैं, उसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्म भाग जाते हैं, उनकी निर्जरा हो जाती है।

8- D;k re fcuk cd dh xkMh e cBuk i lUn djkx\

मान लो, एक बहुत सुन्दर कार है, बहुत मँहगी है, उसमें ए.सी., टीवी. आदि अनेक सुविधाएँ भी हैं, उसकी सीट भी बहुत अच्छी हैं, परन्तु उसमें ब्रेक नहीं है। बताओ, क्या तुम इस बिना ब्रेक की गाड़ी में यात्रा करना पसन्द करोगे?

उत्तर स्पष्ट है कि नहीं, कदापि नहीं। इसी प्रकार संयम-रहित जीवन भी कितना ही सुन्दर और प्रभावशाली हो, परन्तु एक दिन भी जीने योग्य नहीं होता। थोड़ा-सा ही सही, पर जीवन में संयम अवश्य होना चाहिए। संयम-रहित जीवन बिना ब्रेक की गाड़ी के समान बड़ा खतरनाक होता है।

9- txg gkrh rk vkj yMM [kk tkrk&

एक सेठ था। उसके यहाँ शादी पड़ी तो हलवाई को मिठाई आदि पकवान बनाने के लिए बुलाया। हलवाई ने सोचा कि सेठजी के यहाँ इस शादी में बहुत से लोग आयेंगे तो बाद में कुछ खाने को मिले या न मिले इसलिए वह एक लड्डू बनाकर थाली में रखता और दूसरा अपने मुँह में रखता। इस प्रकार वह लड्डू पर लड्डू अपने पेट में डाल रहा था। जब पेट खूब भर गया तो धड़ाम से गिर गया। वैद्य को बुलाया गया कि कहीं कुछ अशुभ न हो जाए। वैद्य आया, बोला— घबराने की कोई बात नहीं। उसने एक सरसों के दाने के बराबर गोली बना दी और उस हलवाई से कहा कि इसे निगल जाओ, ठीक हो जाओगे। इस पर हलवाई हँसने लगा। वैद्य बोला— ‘क्यों हँस रहे हो?’ हलवाई बोला— ‘यदि सरसों के दाने के बराबर मेरे पेट में जगह होती तो मैं एक लड्डू और खा जाता।’

देखो, मरे जा रहा है फिर भी लड्डू खाने की इच्छा हो रही है। अज्ञानी का असंयम ऐसा ही होता है। संयमी मनुष्य प्रथम तो संसार करता नहीं और यदि करे भी तो उतना ही करता है जो नरक न ले जाए।

10- mxyh dk V<kiu dgk pyk x;k\

आचार्य सिद्धसेन सम्राट् विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों में गिने जाते थे। वे गूढ़-गम्भीर विषय को भी सरलतापूर्वक समझा देने में बड़े दक्ष थे। एक बार की बात— उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का विषय चल रहा था। उन्होंने उसे अपनी अंगुली के माध्यम से इस प्रकार समझाया— “बताओ, यह अंगुली कैसी है?”

“टेढ़ी।”

फिर उसे सीधी करके पूछा— “अब कैसी है?”

“सीधी।”

“टेढ़ापन कहाँ गया?”

“अंगुली में ही।”

“सीधापन कहाँ से आया?”

“अंगुली में से ही।”

“ठीक है। देखो, अंगुली में टेढ़ेपन का व्यय हुआ, सीधेपन का उत्पाद हुआ और अंगुली अंगुली ही रही। टेढ़ापन और सीधापन कहीं बाहर से आया-गया नहीं है, अंगुली की ही पर्याय या अवस्था है। इसी प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता रहता है। मूल वस्तु कोई भी कभी न पैदा होती है, न ही नष्ट। उत्पाद-व्यय मात्र उसकी अवस्थाओं में होता है।”

11- vkRen'ku rk fufodYi n'kk e gh gkxk&

पानी के बड़े बर्तन में चाँदी का सिक्का गिर गया। बहुत देखने की कोशिश की, पर नहीं दिखा। आखिरकार थोड़ी देर शान्ति से बैठ गये। अब पानी भी शान्त हो चुका था, अतः अब उसमें वह चाँदी का सिक्का स्पष्ट दिखाई दे रहा था। ठीक इसी प्रकार हम आत्मा के दर्शन तो करना चाहते हैं, पर जब तक हमारे मन में दुनिया भर के संकल्प-विकल्प बने रहेंगे तब तक आत्मा के दर्शन कैसे हो सकते हैं? आत्मा के दर्शन तो तभी हो पाएँगे जब सर्व संकल्प-विकल्पों को छोड़कर शान्त निर्विकल्प होंगे।

12- ge ni.l.k n[kr: g ;k viuk pgjk\

प्रायः हम सभी दर्पण देखते हैं, परन्तु दर्पण के लिए दर्पण नहीं देखते हैं, अपने चेहरे के लिए दर्पण देखते हैं। जो व्यक्ति केवल दर्पण के लिए दर्पण देखते हैं, उन्हें दर्पण में दिखते हुए भी अपना चेहरा नहीं दिखता।

ध्यान रखें, दर्पण के बिना भी हमें अपना चेहरा नहीं दिखेगा और दर्पण को कैसे भी देख लेने भर से भी अपना चेहरा नहीं दिखेगा। हमें दर्पण देखना होगा और फिर उस समय दर्पण को गौण करके उसमें प्रतिबिम्बित अपने चेहरे को ध्यानपूर्वक देखना होगा, तभी हमें अपना चेहरा दिखेगा और तभी दर्पण देखना भी

सफल सार्थक कहा जाएगा।

इसी प्रकार हमें निजात्मा के दर्शन हेतु परमात्मा के दर्शन करने ही होंगे, बिना परमात्मा के दर्शन किए निजात्मा के दर्शन नहीं होंगे। परन्तु परमात्मा के दर्शन कैसे भी कर लेने भर से भी निजात्मा के दर्शन नहीं होंगे, हमें उसमें ध्यानपूर्वक निजात्मा के दर्शन करने का प्रयास करना होगा, तभी निजात्मा के दर्शन होंगे और तभी परमात्मा के दर्शन भी सफल सार्थक कहे जा सकेंगे।

13- /ke/;ku dh D;k mi ;kfxrk g&

एक बार किसी ने प्रश्न किया— “कर्म का उदय टाला नहीं जा सकता, भगवान या देवी-देवता भी उसे बदल नहीं सकते, फिर पूजा-पाठ-दया-दान-स्वाध्यायादि रूप धर्मध्यान करने की क्या उपयोगिता है?

उत्तर— जिस प्रकार दाल में मिर्च तेज डल गई हो तो उसे निकाला तो नहीं जा सकता, किन्तु उसमें थोड़ा मीठा डालकर उसे खाया जा सके—ऐसा बनाया जा सकता है। उसी प्रकार कर्म के उदय को तो टाला नहीं जा सकता, परन्तु धर्मध्यान के द्वारा उसे शान्तिपूर्वक सहा जा सकता है।

14- Hkkok I /ke' gkrk g] fØ;k I ugh&

तीन स्त्रियाँ थीं— 1. रानी, 2. पिसनहारी, और 3. श्राविका। एक दिन उन तीनों ने ही भोजन नहीं किया, तीनों भूखी रहीं। कारण— 1. रानी को भूख नहीं लगी थी क्योंकि कल का गरिष्ठ भोजन ही नहीं पचा था; 2. पिसनहारी को आज कोई काम नहीं मिल पाया अतः उसके पास भोजन ही नहीं था; 3. श्राविका ने अपने आप स्वेच्छापूर्वक ‘उपवास’ किया था।

बाहर से देखा जाए तो तीनों स्त्रियों ने समान रूप से भोजन के बिना दिन बिताया है, किन्तु रानी और पिसनहारी की यह क्रिया धर्म नहीं है और श्राविका की यही क्रिया धर्म है। क्योंकि धर्म भावों के द्वारा होता है, मात्र बाह्य क्रिया से नहीं। जब कभी बाह्य क्रिया से धर्म बताया जाए तब भी हमें उस बाह्य क्रिया के पीछे जो आत्मा का विशुद्ध भाव होता है, उसे ही धर्म समझना चाहिए।

15- Hk; vkj vHk; d LFku&

शास्त्रों में कहा गया है कि यह अज्ञानी जीव जिन चीजों पर विश्वास करता है वे तो वास्तव में भय के स्थान (कारण) हैं और जिनसे डरता है वे अभय के स्थान (कारण) हैं। यथा—

“मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततो नान्यद् भयास्पदम्।

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥”

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितंत्र, 29

vFk& मूढ़ जीव जहाँ विश्वास करता है उससे अधिक भयास्पद और कुछ नहीं है। तथा जिससे डरता है उससे अधिक अभय का स्थान अन्य कुछ नहीं है।

यह बात पं. दौलतराम कृत 'छहढाला' में भी कही गयी है—

“रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।”

“आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।”

—छहढाला 2/5-6

यह बात बड़ी अटपटी लगती है, आसानी से समझ में नहीं आती; किन्तु पूज्य आचार्यश्री इसे उदाहरण द्वारा इस तरह सरलता से समझाते हैं—

एक हिरण था। एक दिन वह अपने सुन्दर सींगों को देखकर बहुत खुश हो रहा था और साथ ही अपने कुरूप पैरों को देखकर बहुत दुःखी भी हो रहा था। तभी वहाँ एक शिकारी आ गया। हिरण दौड़कर भागने लगा। शिकारी भी उसके पीछे-पीछे भागने लगा। आगे चलकर एक झाड़ी में हिरण के सींग उलझ गये। हिरण को रुकना पड़ा। किन्तु वहीं पास में एक साधु पुरुष थे, उन्होंने दया करके हिरण के सींगों को झाड़ी में से सुलझा दिया। इतने में ही शिकारी भी आ पहुँचा और हिरण को मॉगने लगा। किन्तु उन साधु पुरुष ने उसे ऐसा सदुपदेश दिया कि उसका (शिकारी का) हृदय-परिवर्तन हो गया। उसने आजीवन शिकार का त्याग कर दिया। इसके बाद महात्माजी ने उस हिरण को समझाया— देखो, जिन सींगों को देखकर तुम खुश हो रहे थे, वे तुम्हारी मृत्यु का कारण बन रहे थे और जिन पैरों को देखकर तुम दुःखी हो रहे थे वे ही तुम्हें बचाने के काम आये। समझे?

ठीक यही दशा हमारी है। हम परिग्रह एवं विषयभोग सामग्री को सुख का साधन समझते हैं, जबकि उससे बड़ा दुःख का कारण और कोई नहीं है तथा संयम-तप-त्याग को दुःख व कष्ट का साधन समझते हैं, जबकि उससे बड़ा सुख का कारण और कोई नहीं है।

16- tho dh vkdyrk 0;Fk g] Hkejkx g]

यह जीव परपदार्थों को देख-देखकर सदा आकुलता करता रहता है कि अरे, यह क्या हो रहा है, यह क्या हो गया, यह तो ऐसा हो जाएगा, वैसा हो जाएगा, ऐसा नहीं होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, इत्यादि और अनादि काल से ऐसी ही अनन्त आकुलता में अनन्त जन्म-मरण करता फिरता आया है।

किन्तु वास्तव में देखा जाए तो इस जीव की सारी आकुलता व्यर्थ है, क्योंकि जगत् में कुछ भी ऐसा बुरा नहीं घटित हो रहा है जो कि सचमुच आकुलता का कारण हो। जगत् में तो सभी अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित हो रही हैं, कोई भी वस्तु अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर

रही है। यह जीव अपने अज्ञान से, भ्रम से व्यर्थ ही आकुलता कर रहा है। इसका यह भ्रमरोग कैसा है— इसे हम इस उदाहरण से भली-भाँति समझ सकते हैं—

एक बुढ़िया थी। उसे उसके बेटे-बहू एक दिन ज़बरदस्ती सिनेमा दिखाने ले गये। उसने पहले कभी भी सिनेमा नहीं देखा था। सिनेमा देखते समय एक दृश्य ऐसा आया जिसमें बहुत वर्षा हो रही थी। उसे देखकर बुढ़िया बहुत अधिक घबरा गई, चिल्लाने लगी कि अरे मैं तो छत पर बड़ी-पापड़ सुखाकर आई हूँ, मेरे बिस्तर भी रखे हैं, सब खराब हो जाएँगे और वह वहाँ से निकल कर जल्दी-जल्दी भागती हुई घर जाने लगी। रास्ते में सड़क पार करते समय उसका एक्सीडेंट हो गया और वह मर गई। यही हाल हमारा है, हम भी अपने भ्रमरोग से महा दुःखी हैं।



समयसारस्वरूपोऽहम्¹

एक जौहरी था— श्रीमद् रायचन्द्र। बम्बई (मुम्बई) में उसके हीरे-जवाहरात की बड़ी दुकान थी। एक दिन उसकी दुकान पर एक व्यक्ति ‘समयसार’ नामक शास्त्र लेकर आया। जौहरी ने उस ‘समयसार’ की कुछ ही गाथाएँ पढ़ीं कि वह अत्यन्त प्रमुदित हो गया। उसे लगा मानों कोई अद्भुत खजाना मिल गया है। जौहरी ने उस व्यक्ति को उस ‘समयसार’ के बदले में अंजुली भर कर हीरे दे दिए। साथ में यह भी कहा—

“कोटिशः धन्यवाद है भाईसाहब आपको। यही है असली हीरा। हीरा ही नहीं, हीरे की खान है यह तो। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर हीरे से भी कहीं अधिक अनमोल बातें भरी हुई हैं। इसे पाकर तो भाग्य खुल गये हैं मेरे। आपका यह उपकार मैं कभी नहीं भूलूँगा।”

निश्चय ही ‘समयसार’ सच्चा हीरा है और जो उसे पहिचाने वही सच्चा जौहरी है।

समयसार को हीरा या रत्न हम अपने मन से यूँ ही नहीं कह रहे हैं, अपितु अनेक आचार्यों ने कहा है। आचार्य देवसेन ने तो उसे रत्न ही नहीं, रत्नों का पर्वत ही कह दिया है। यथा—

“जिनपतिमतमह्या रत्नशैलादपापादिह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा ।
प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम् ॥²”

समयसार सम्पूर्ण जिनवाङ्मय रूपी पृथ्वी पर सुमेरु के समान उत्तुंग रत्नपर्वत के समान है। इसके द्वारा ही जीवन पारमार्थिक उन्नति को प्राप्त कर सकता है। अनेक आचार्यों ने इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर अपने ग्रन्थों की रचना की है। अत एव इसे सम्पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व का सार तक कहा गया है—

‘समयसारं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वम् ।³’

1. आचार्य माघनन्दि, ध्यानसूत्र 45
2. आचार्य देवसेन, नयचक्र, श्लोक 2
3. आचार्य वट्टकेर, मूलाचार 10-1-892

अर्थात् समयसार परमतत्त्व का प्रतिपादक होने से द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वो का सार है। इससे स्पष्ट है कि समयसार सम्पूर्ण ग्रन्थों का मूल आधार है और शेष सभी ग्रन्थ उसके उपजीवी हैं। ‘समयसार’ के रचयिता दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द हैं, जो विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुये थे और जिन्होंने समयसार के अतिरिक्त प्रवचनसार, नियमसार आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है। आचार्यों में कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों में भी ‘समयसार’ का महत्त्व विशिष्ट है। जीवन में ‘समयसार’ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि वह जीव अज्ञानी है, मूढ़ है जो ‘समयसार’ को नहीं जानता—

‘सो अण्णाणी मूढो जो ण याणदे समयसारं ।’⁴

समयसार माता के दूध के समान हितकर एवं सुपाच्य है और इसीलिए सभी के द्वारा निर्बाध रूप से पठनीय है; तथापि वर्तमान में हमारे ही कुछ बन्धु ऐसा कहते देखे जाते हैं कि इसे गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए। उनका ध्यान हम यहाँ ‘समयसार’ के ही निम्नलिखित कथन की ओर विशेषतः आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि आत्मा न गृहस्थ है, न मुनि, तथापि जो आत्मा को गृहस्थ या मुनि लिंग वाला समझता है वह मूढ़ है, मोक्षमार्गी नहीं। यथा—

“पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयराणि ।

घेत्तुं वदन्ति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥⁵”

हाँ, इतना अवश्य है कि इसे समझने के लिए आत्महित की सच्ची रुचि एवं विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता है। उसके बिना कोई भी इस अध्यात्मविषयक ग्रन्थराज के मर्म को नहीं समझ सकता है। आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार पति नेत्रविहीन हो तो पत्नी का शृंगार-सौन्दर्य एवं हाव-भाव-विलास निष्फल रह जाता है, उसीप्रकार विलक्षण बुद्धि से रहित श्रोता का शास्त्र-श्रवण व्यर्थ है। यथा—

“अप्रतिबुद्धे श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम् ।

नेत्रविहीने भर्तरि विलासलावण्यमिव स्त्रीणां ॥⁶”

अतः समयसार के पाठक को भी विद्वान होना चाहिए —इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु ‘समयसार’ के अध्ययन हेतु किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। यह सभी के लिए है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष और आबालगोपाल तक इसके पठन का अधिकारी है। समयसार को घर-घर तक ही नहीं, जन-जन तक पहुँचाना

4. आचार्य देवसेन, भावसंग्रह 271

5. समयसार, गाथा 408

6. पंचसंग्रह, श्लोक 2, पृष्ठ 585

चाहिए। समयसार अपने पाठक की भाग्यलिपि बदल सकता है, सम्पूर्ण जीवन ही बदल सकता है, अतः उसके अध्ययन से किसी को रोकना एक बड़ा अपराध है।

आज के समय में जब जीवन में सर्वत्र भागदौड़ और तनाव-सा दिखाई दे रहा है तब तो समयसार की आवश्यकता और भी अधिक है। परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी मुनिराज 'समयसार' के महान स्वाध्यायी थे, उसे उन्होंने स्वहस्त से लिखा भी था। वे कहते थे—

‘समयसार पढ़ ले जो कोई। ताहि तनाव कभी नहिं होई ॥’

सत्य है, समयसार के पाठक को जीवन में कभी कोई तनाव नहीं हो सकता। कैसी भी विषम परिस्थिति उसे अशान्त नहीं कर सकती। वह सीख जाता है— ‘मेरी मुझको वन्दना, सोहं आत्मराम।’ समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द का महान सन्देश यह है कि हे भव्य जीवो ! यदि तुम उत्तम सुख चाहते हो तो सदैव इस समयसार स्वरूप शुद्धात्मा में ही रति करो, इसी में संतुष्ट रहो और बस एक इसी में सदा तृप्त रहो, तुम्हें अवश्य उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। यथा—

‘एदमिह रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह ।

एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥’⁷

समयसार का यह अमृत-सन्देश हम सभी के जीवन में चरितार्थ हो समयसार घर-घर तक ही नहीं, घट-घट तक भी पहुँच जाए— इसी मंगल कामना के साथ मैं विराम लेता हूँ।



आचार्य कुन्दकुन्द का दार्शनिक वैशिष्ट्य

आचार्य कुन्दकुन्द की वैसे तो अनेक दार्शनिक विशेषताएँ बताई जा सकती हैं, परन्तु एक विशेषता जो मुझे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, वह यह है कि उन्होंने सम्यग्दर्शन पर अत्यधिक बल दिया है। सम्यग्दर्शन का ऐसा महत्त्व प्रकाशित करने वाला दूसरा कोई आचार्य नहीं दिखाई देता। सम्यग्दर्शन के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द ने यहाँ तक कह दिया है कि—

“दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरितभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥”

—(दंसणपाहुड, 3)

अर्थात् सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव ही वास्तव में भ्रष्ट है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। चारित्र से भ्रष्ट जीव तो सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव कथमपि सिद्ध नहीं हो सकते।

इस प्रकार यहाँ उन्होंने चारित्र को गौण कर दिया है और ‘शीलपाहुड’ आदि की अनेक गाथाओं (गाथा-क्रमांक 16,17,31 आदि) में ज्ञान को गौण कर दिया है। यथा—

“शीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।
सुदपारगपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥”

—(शीलपाहुड, 17)

अर्थात् जो भव्य शील गुण से मंडित हैं उन्हें देव भी पूजते हैं और जो बहुत श्रुत पारगामी हैं परन्तु शील-रहित हैं वे लोक में तुच्छ ही बने रहते हैं।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप त्रयात्मक मोक्षमार्ग में से भी सम्यग्दर्शन को ही सर्वाधिक मुख्यता प्रदान की है— यह उनका बहुत बड़ा दार्शनिक वैशिष्ट्य है। इस पर हमें बहुत ही गंभीरता से चिन्तन करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन पर इतना अधिक बल प्रदान किया है कि इसके होने पर वे अन्य कुछ भी न होने पर भी सब कुछ हो गया मानते हैं और इसके हुए बिना अन्य बहुत कुछ होने पर भी वे कुछ नहीं हुआ मानते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार सम्यग्दृष्टि जीव मुक्त ही हो चुका है, कृतकृत्य हो चुका है, उसे अब कुछ भी करना शेष नहीं बचा है; रागादि-सहित होते हुए भी वह रागादि-रहित ही है, वह शंका-कांक्षादि-सहित होते हुए भी पूर्णतः निःशंक, निःकांक्ष आदि ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार संसारी और मुक्त जीव में बस एक ही अन्तर है— जिसे सम्यग्दर्शन हो गया वह मुक्त है, चाहे वह कैसा भी हो, कोई भी हो, चिड़िया ही हो, और जिसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ वह संसारी है, चाहे वह भी कैसा ही हो, कोई भी हो, सर्वागमधारी मुनि ही हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अन्य जैनाचार्यों की भाँति मोक्षमार्ग को गुणस्थानों के 14 सोपानों में विभाजित करके प्रस्तुत नहीं किया; किन्तु दो ही भागों में सारे संसार और मोक्ष की पूरी व्यवस्था को समाहित कर दिया। उनके अनुसार “सम्यग्दृष्टि मुक्त है और मिथ्यादृष्टि संसारी” —बस इतना ही सम्पूर्ण संविधान है।

i'u& आचार्य कुन्दकुन्द ने रागादि-सहित होते हुए भी सम्यग्दृष्टि को रागादि-रहित कैसे कहा?

mUkj& आचार्य कुन्दकुन्द का मानना है कि सम्यग्दृष्टि रागादि-सहित होता ही नहीं, वह भोग भोगता ही नहीं, घर में रहता ही नहीं; रागादि करता ही नहीं; उसे शंका-कांक्षादि होते ही नहीं, वह तो सर्वथा निःशंक, निर्भय निर्वाछक ही होता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव बाहर से रागादि-सहित दिखाई देता है, भोग भोगते हुए दिखाई देता है, आदि; परन्तु वास्तव में (दृष्टि-अपेक्षा, श्रद्धा-अपेक्षा) देखा जाए तो उसके किंचित् भी रागादि नहीं हैं, वह भोग भोगता ही नहीं है; क्योंकि उसके इनमें उपादेयबुद्धि/सुखबुद्धि नहीं होती, हेयबुद्धि ही रहती है।

i'u& सर्वागमधारी मुनि को भी उन्होंने ‘अज्ञानी’ और ‘संसारी’ कैसे कहा?

mUkj& आचार्य कुन्दकुन्द का मानना है कि जो जीव अभी मिथ्यादर्शन-सहित है, वह परमार्थ से मुनि हुआ ही नहीं है, बाहर में भले ही उसने वस्त्रादि भी छोड़ दिये हों पर उससे क्या होता है, उसके अभिप्राय में तो अभी पूर्णतः रागादि बसते हैं; अतः वह तो अज्ञानी और संसारी ही है।

i'u& क्या कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने गुणस्थान के 14 सोपानों को और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से भी ज्ञान-चारित्र को गौण करके मात्र सम्यग्दर्शन पर ही सर्वाधिक बल प्रदान किया?

mUkj& दरअसल, यह जीव बाहर में बहुत कुछ कर लेता है, बड़ा ज्ञानी बन जाता है, बड़ा चारित्रवान भी बन जाता है; पर सम्यग्दर्शन नहीं कर पाता, अतः

उसका सारा ज्ञान-चारित्र निष्फल ही रह जाता है। इसके विपरीत यदि कोई जीव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ले तो उसे ज्ञान-चारित्र उसके पास न हो तो भी एक-न-एक दिन अवश्य ही प्राप्त हो जाएँगे— इसमें कोई सन्देह नहीं है। यहाँ देर हो सकती है, अन्धेर नहीं।

जिसप्रकार जिस वृक्ष की जड़ कट गई हो उसके पत्ते हरे-भरे/जीवित दिखें तो भी उन्हें समाप्त ही समझना चाहिए और जिस वृक्ष की जड़ न कटी हो उसके पत्ते टूट गये हों तो भी उन्हें जीवित/हरे-भरे ही समझना चाहिए। उसीप्रकार जिसका मिथ्यात्व चला गया उसका संसार अब समाप्त ही समझना चाहिए; और जिसका मिथ्यात्व नहीं गया उसका संसार हरा-भरा ही समझना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) ही संसार-वृक्ष का मूल है और सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) ही मोक्षतरु का मूल है— ‘दंसणमूलो धम्मो’ —(दंसणपाहुड, गाथा 2)

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द को जोर देकर कहना पड़ा कि मोक्षाभिलाषी जीव को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए।

तथा, सम्यग्दर्शन में भी मात्र व्यवहार सम्यग्दर्शन में ही नहीं रुक जाना चाहिए, निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन तो पूर्व में अनेक बार हो चुका है, पर उससे भव का अभाव नहीं हुआ। निश्चय सम्यग्दर्शन ही भव का अभाव करने में समर्थ है।

ii'u& निश्चय सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो?

mùkj& निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त करने हेतु जीवादि सात तत्त्वों का समीचीन/सत्यार्थ भूतार्थ श्रद्धान करना चाहिए। यथा—

“भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥”

—(समयसार, 13)

यही उमास्वामी आदि अन्य आचार्यों ने भी कहा है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र, 1/2-4

अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष— इन सात तत्त्वों का समीचीन श्रद्धान करने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ इस विषय में भी एक सारभूत विशेष बात यह कहते हैं कि जो एक आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करता है उसे सभी तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान हो जाता है और जो आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान नहीं करता उसे किसी भी तत्त्व का श्रद्धान-ज्ञान नहीं होता, अतः तुम तो एक आत्मा का ही समीचीन श्रद्धान-ज्ञान करो,

अनुभवात्मक श्रद्धान-ज्ञान करो, इसी से तुम्हें सातों तत्त्वों का समीचीन श्रद्धान-ज्ञान होकर निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी।

i:'u& सात तत्त्वों का समीचीन श्रद्धान कैसे हो सकता है?

mÜkj& सात तत्त्वों के समीचीन ज्ञान से ही उनका समीचीन श्रद्धान हो सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञान के बिना होने वाली श्रद्धा समीचीन श्रद्धा नहीं है, अन्ध श्रद्धा है।

i:'u& सात तत्त्वों का समीचीन ज्ञान करने के लिए क्या करना चाहिए?

mÜkj& सात तत्त्वों का समीचीन ज्ञान करने के लिए हमें समीचीन रूप से शास्त्रों (जिनवाणी) का अभ्यास करना चाहिए—

‘तम्हा सत्थं समधिदव्वं’ —(प्रवचनसार, 86)

i:'u& क्या जैनशास्त्रों में किसी प्रकार का कोई यम-नियम, जप-तप, मन्त्र-तन्त्रादि कुछ ऐसा बताया गया है, जिससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सके?

mÜkj& नहीं, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का ऐसा कोई चामत्कारिक उपाय नहीं है। किसी भी प्रकार की शरीर-मन-वाणी की बाहरी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता। किसी भी प्रकार के यम-नियमादि, मन्त्र-तन्त्र, जप-तप या व्रत-उपवास आदि से भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। जैन शास्त्रों में जो यम-नियम, जप-तप आदि की बात आती है वह तो रागादि मिटाने के अभ्यास हेतु है।

i:'u& सम्यग्दर्शन की शीघ्र प्राप्ति के लिए हमें क्या करना चाहिए?

mÜkj& सम्यग्दर्शन की शीघ्र प्राप्ति के लिए हमें निरंतर रुचिपूर्वक जीवादि सात तत्त्वों का समीचीन श्रद्धान करना चाहिए। तथा समीचीन श्रद्धान के लिए पहले हमें सात तत्त्वों का संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित पूर्ण समीचीन ज्ञान करना चाहिए। उसके बाद स्वयमेव उनका सच्चा श्रद्धान होता है। तत्त्वों के समीचीन ज्ञान-श्रद्धान होने पर जो सहज ही भेदविज्ञान रूप अनुभव होता है, उसी से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का बस यही एक उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

i:'u& क्या सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव सचमुच कृतकृत्य हो जाता है, उसे रागादि मिटाने के लिए कुछ भी उद्यम नहीं करना पड़ता?

mÜkj& सम्यग्दर्शन होने पर जीव श्रद्धापेक्षा कृतकृत्य कहा जाता है। यद्यपि अभी उसे बहुत कुछ उद्यम करना शेष रहता है, परन्तु वह बहुत ही कम है, अतः यहाँ उसे गौण कर दिया गया है।

i:'u& क्या किसी अन्य धर्म के साधु या देव को नमस्कार करने से

सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है?

mùkj& आचार्य कुन्दकुन्द ने (समयसार गाथा 220 से 223 तक में) इस प्रश्न का भी बड़ा अच्छा उत्तर दिया है कि शंख चाहे काली मिट्टी खाये या पीली मिट्टी खाये, पर उससे वह काला या पीला नहीं होता। तथा जब उसे काला/पीला होना होता है तो बिना काली/पीली मिट्टी खाए ही हो जाता है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध वस्तुतः अन्तरंग श्रद्धा से है। जब तक वह सही है तब तक सम्यग्दर्शन कदापि नष्ट नहीं होता और यदि वह मिथ्या हो गई तो सम्यग्दर्शन को नष्ट होने से कोई नहीं रोक सकता। सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध बाह्य क्रिया से नहीं है, तथापि उपचार से शास्त्रों में इसप्रकार के कथन पाए जाते हैं कि रागी-द्वेषी देव-शास्त्र-गुरु को प्रणामादि करने से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। रागी-द्वेषी देव-शास्त्र-गुरु को प्रणामादि करने से अपनी श्रद्धा में राग-द्वेष में उपादेयबुद्धि जागृत होती है, इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेहादि कारणों से भी रागी-द्वेषी देव-शास्त्र-गुरु को प्रणामादि नहीं करते हैं। शिष्टाचार या लोकाचार के वश कुछ करना पड़े तो उसे वे अपना अतिचार मानते हैं। यथा—

‘शंकाकांक्षान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।’

—तत्त्वार्थसूत्र, 7/20

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन के महत्त्व को बड़े ही असाधारण ढंग से प्रस्तुत किया है, जो हमें मोक्षमार्ग के मूलाधार को ठीक से संभालने की पावन प्रेरणा देता है और यही आचार्य कुन्दकुन्द का सबसे बड़ा दार्शनिक वैशिष्ट्य या योगदान है। ❖❖

स्वसमय और परसमय

‘स्वसमय’ और ‘परसमय’ की चर्चा शास्त्रों में मुख्यतः ‘स्वमत’ और ‘परमत’ के अर्थ में होती रही है। यथा—

1. ‘तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो ।’ —धवला, 1/1/48
2. ‘अगाहिद-ससमयसम्भावो परसमयसंकहाहि वाउलिदचित्तो ।’ —धवला 1/1/106
3. ‘सपरसमयविदण्हू ।’ —आचार्यभक्ति
4. ‘विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ।’ —अष्टसहस्री
5. ‘एकांतवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ।’ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 24
6. ‘स्वपरसमयविशेषज्ञाः ।’
7. ‘परसमयविदूरित ।’ —सिद्धचक्रविधान

किन्तु अध्यात्मशिरोमणि आचार्य कुन्दकुन्द ने इस दार्शनिक विषय को भी आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत करके अध्यात्म-जगत् को एक नया एवं महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रदान कर दिया।

यद्यपि ‘समय’ शब्द के काल, अवसर, समझौता, अधिकार, रूढ़ि, कवि-विश्वास, युद्ध, मत, विधि, अनुबंध, नियुक्ति, निर्देश, शपथ, संकेत, सीमा, सिद्धान्त, समृद्धि, उपसंहार आदि अनेक अर्थ होते हैं। (—आप्टे, संस्कृत-हिंदी-कोश) किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ‘समय’ का अर्थ बारम्बार ‘आत्मा’ कर रहे थे, अतः ‘स्वसमय’ और ‘परसमय’ शब्दों को भी उन्होंने ‘आत्मा’ पर ही घटित करके उनका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और शिक्षाप्रद अर्थ किया, जो मोक्षमार्ग के साधकों को निरंतर ‘स्वसमय’ बनने की गहरी प्रेरणा देने लगा। आचार्य कुन्दकुन्द का यह अर्थ उनका अपना मौलिक योगदान बनकर अध्यात्मजगत् में इतना अधिक चर्चित हुआ कि चारों ओर अद्भुत क्रांति हो गई, सभी मोक्षार्थी निरन्तर स्वसमय बनने की भावना भाने लगे।

स्वसमय और परसमय की चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम समयसार, गाथा 2 में प्रस्तुत की, जो इसप्रकार है—

“जीवो चरित्तदंसणणाणट्टिदो तं हि ससमयं जाण ।
पोण्णलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥”

वfk& जो जीव चारित्र-दर्शन-ज्ञान में स्थित है उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गलकर्म-प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।

आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकारों ने इस गाथा का अर्थ खोलते हुए स्वसमय और परसमय के अनेकानेक स्तर गुणस्थानानुसार उपस्थित कर दिए, जो बहुत ही रोचक रहे और उससे इस स्वसमय-परसमय के विषय को और भी अधिक स्पष्टता एवं गम्भीरता प्राप्त हुई। यथा—

1. मिथ्यादृष्टि जीव परसमय है और सम्यग्दृष्टि जीव स्वसमय है।
2. सम्यग्दृष्टि जीव भी अविरत हो तो परसमय है और व्रती हो तो स्वसमय है।
3. सम्यग्दृष्टि जीव व्रती होने पर भी यदि गृहस्थ है तो परसमय है और गृहत्यागी हो तो स्वसमय।
4. मुनिराज ही स्वसमय हैं और उनसे नीचे की दशा वाले सब परसमय हैं।
5. मुनिराज भी जब आत्मलीन हों तभी स्वसमय हैं और शेष समय में परसमय हैं।
6. श्रेणी पर आरूढ़ मुनिराज ही स्वसमय हैं और उससे पहले परसमय हैं।
7. पूर्ण वीतराग अरिहंत देव ही स्वसमय हैं और उससे पहले तक सब जीव परसमय हैं।
8. सर्व कर्म रहित सिद्ध भगवान ही स्वसमय हैं और उससे पहले तक सब जीव परसमय हैं।

इसके और भी अनेक— संख्यात, असंख्यात, अनंत-स्तरभेद किये जा सकते हैं।

—(धवला)

स्वसमय और परसमय की उक्त समस्त व्याख्याओं पर यदि गहराई से ध्यान दिया जाये तो एक विशेष बात यह भी स्पष्ट होती है कि स्वसमय और परसमय की यह स्थिति प्रायः दो आत्माओं पर घटित करके समझाई गई है, किन्तु कभी-कभी एक ही आत्मा पर स्वसमय और परसमय रूप दोनों अवस्थाएँ घटित कर दी गई हैं। जैसे कि व्याख्या-नम्बर 5 में एक ही आत्मा पर, मुनिराज पर ही घटित की गई है कि जब वे आत्मलीन हों तब स्वसमय हैं और शेष समय में परसमय हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि आत्मलीनता ही स्वसमयपना है और उससे बाहर अपने उपयोग को रखना ही परसमयपना है। दूसरे शब्दों में, स्वद्रव्य-रत जीव स्वसमय है और परद्रव्य-रत जीव परसमय है। (In0oknk lXxb i jn0oknk nXxbA —मोक्षपाहुड, 16)।

इसप्रकार यह स्वसमय-परसमय की चर्चा सदा ही सबको समस्त शुभाशुभ

भावों से ऊपर उठकर आत्मलीन रहने की मंगल प्रेरणा देने वाली बन गई। साधक सोचने-समझने लगे कि जब हम शुद्धोपयोग में लीन हैं तभी हम अपने हैं, स्वसमय हैं, अन्यथा सर्व शुभाशुभ भावों के काल में तो हम अपने नहीं, पराये हैं, परसमय हैं। (le'k)ki; kx L; krA —पंचाध्यायी)

स्वसमय और परसमय को कुछ लोग क्रमशः मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का अथवा बहिरात्मा और अंतरात्मा का पर्यायवाची कह देते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है, यह उससे आगे की एक विशेष बात है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने एक बहुत ही विशेष प्रयोजन से कहा है। परसमयपना त्यागने का अर्थ केवल सम्यग्दृष्टि बनना नहीं है, अपितु उससे भी आगे बढ़ना है, बढ़ते ही जाना है और तब तक बढ़ते जाना है, जब तक स्थायी रूप से आत्मलीनता न हो। कहीं भी नहीं अटकना है, किंचित् भी नहीं अटकना है, किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म शुभोपयोग में भी नहीं अटकना है, पूर्ण निर्विकल्प ही होना है, वह भी किंचित् काल के लिए नहीं, अपितु हमेशा-हमेशा के लिए अपने उपयोग को अपने आत्मा में ही लीन कर देना है।

स्वसमय-परसमय की यह आध्यात्मिक चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है। 'प्रवचनसार' में गाथा-संख्या 93 में कहा गया है कि—
iTt; e< k fg ijle; k अर्थात् पर्यायमूढ जीव परसमय है। तथा गाथा-संख्या 94 में इस बात को पूरी तरह स्पष्ट करते हुए ऐसा कहा है कि जो जीव पर्यायों में लीन हैं वे परसमय हैं और जो आत्मस्वभाव में लीन हैं वे स्वसमय हैं। यथा—

“जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिण ति णिद्धिदा।

आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥”

इसी प्रकार 'पंचास्तिकायसंग्रह' में भी गाथा 155 और 165 में स्वसमय-परसमय की यह चर्चा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आई है, जो मूलतः पठनीय है। गाथा 165 की टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने एक विशेष बात यह कही है कि जो जीव पुरुषार्थ करते हुए भी शुद्धात्मा में लीन नहीं हो पा रहे हैं वे सूक्ष्म परसमय हैं और जो समर्थ होते हुए भी शुद्धात्मा में लीन नहीं हो रहे हैं, किसी शुभोपयोग में ही अटके हैं, वे स्थूल परसमय हैं। यथा—

“कश्चित् पुरुषो निर्विकारशुद्धात्मभावनालक्षणे परमोपेक्षासंयमे स्थातुमीहते तत्राशक्तः सन् कामक्रोधाद्यशुद्ध-परिणामवंचनार्थं संसारस्थितिछेदनार्थं वा यदा पंचपरमेष्ठिषु गुणस्तवनभक्तिं करोति तदा सूक्ष्मपरसमयपरिणतः सन् सराग-सम्यग्दृष्टिर्भवति, यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थोपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीत्येकान्तेन मन्यते तदा स्थूलपरसमयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति।”

इस प्रकार यहाँ परसमय के भी सूक्ष्म और स्थूल— ये दो भेद किये गये— यह आचार्य जयसेन स्वामी का विशेष योगदान है। परसमय का ऐसा विभाजन सूक्ष्म

विकल्प को भी तोड़कर शुद्धात्मा में लीन होने की बहुत मार्मिक प्रेरणा देता है। तथा यह भी कहता है कि जो अपनी आत्मा से जितना अधिक दूर है वह उतना ही बड़ा परसमय है और जो जितना-जितना पास आता जाता है, वह उतना-उतना स्वसमय बनता जाता है।

स्वसमय-परसमय की यह आध्यात्मिक चर्चा ‘रयणसार’ में भी गाथा-संख्या 141 में भी बहुत सुंदर रीति से आई है, जो मूलतः इस प्रकार है—

“बहिरंतरप्पभेदं परसमयं भण्णदे जिणिंदेहिं ।

परमप्पा सगसमयं तब्भेदं जाण गुणठाणे ॥”

वfk& जिनेन्द्र भगवान ने बहिरात्मा व अंतरात्मा— इन दोनों भेदों को परसमय कहा है और परमात्मा को स्वसमय कहा है। इनके भेदों को गुणस्थानों के अनुसार जान लेना चाहिए।

यहाँ **rCHkn t k.k x.kBk.k** पद विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें ऊपर कहे गये स्वसमय-परसमय के सभी स्तर-भेद गर्भित हो गये हैं। **rCHkn t k.k x.kBk.k** का आशय है कि हर गुणस्थान अपने पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा स्वसमयपना है और उत्तरवर्ती गुणस्थान की अपेक्षा परसमयपना है जैसेकि पाँचवाँ गुणस्थान चौथे गुणस्थान की अपेक्षा स्वसमयपना है और छठे गुणस्थान की अपेक्षा परसमयपना है। इसीप्रकार सर्वत्र लगा लेना चाहिए।

यहाँ बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा से जोड़कर स्वसमय-परसमय की बात समझाने से यह भी स्पष्ट होता है कि जिसप्रकार बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा —ये तीन आत्माएं नहीं हैं अपितु एक ही आत्मा के तीन स्तर हैं, उसीप्रकार स्वसमय और परसमय —ये दोनों भी दो आत्मा नहीं हैं अपितु एक ही आत्मा के दो स्तर हैं। इन्हें एक ही आत्मा पर घटित करके समझना चाहिए, पृथक्-पृथक् दो आत्माओं पर घटित करके नहीं, तभी हमें स्वसमय-परसमय की चर्चा का असली लाभ प्राप्त होगा।

स्वसमय-परसमय की आध्यात्मिक अवधारणा आत्मसाधकों के लिए बहुत ही प्रयोजनभूत विषय है, जो हमें समस्त शुभाशुभ भावों से ऊपर उठकर निरंतर आत्मलीन रहने की पावन प्रेरणा देती है। स्वसमय-परसमय की चर्चा का गहरा संदेश यह है कि स्व स्व है, पर पर है। स्व ही सर्वप्रकार से उपादेय है, स्व ही श्रद्धेय है, स्व ही ध्येय है, स्व ही ज्ञेय है और पर सर्वप्रकार से हेय है। पर में हमारा मन कभी लग ही नहीं सकता। लोक में भी हम देखते हैं कि कोई भी वस्तु कितनी भी सुन्दर हो, महँगी हो; परन्तु यदि वह पर है तो उसमें हमारा मन नहीं लग पाता, वह हमें प्रसन्न नहीं कर पाती। तथा कोई वस्तु कितनी भी असुन्दर हो, सस्ती हो; पर यदि वह स्व है तो वह तो हमारा मन सहज ही उसमें मग्न हो जाता है। पराये

महल से अपनी झोपड़ी हमें प्यारी लगती है। किसी देश की हम बहुत प्रशंसा करते हैं, किन्तु उसे 'परदेश' कहना ही बताता है कि हम उसे अच्छा नहीं मानते, प्यार नहीं करते। अपना तो अपना ही होता है। परपुरुष क्या कोई पुरुष होता है? परघर क्या कोई घर होता है? परस्त्री क्या कोई स्त्री होती है? इसीप्रकार परसमय क्या कोई समय होता है? नहीं, कदापि नहीं। आत्मा में भी हमारा उपयोग इसीलिये नहीं लगता कि उसे हमने पराया मान रखा है।

पर कहना सबसे बड़ी गाली भी है। एक शिष्य को उसके गुरुजी बहुत डांटते थे— तू मूर्ख है, निर्बुद्धि है, पापी है, गधा है, इत्यादि, किन्तु फिर भी वह बहुत दुखी नहीं होता था; किन्तु एक दिन गुरुजी ने उससे कहा कि तू मेरा शिष्य नहीं है, जा, मैं तुझे अपना शिष्य नहीं मानता। शिष्य अब महादुखी हो गया।

एक पुत्र को उसके पिता बहुत डांटते थे— तू मूर्ख है, निर्बुद्धि है, पापी है, गधा है, इत्यादि, किन्तु फिर भी वह बहुत दुखी नहीं होता था; किन्तु एक दिन पिता ने उससे कहा कि तू मेरा पुत्र नहीं है, जा, मैं तुझे अपना पुत्र ही नहीं मानता। पुत्र अब महादुखी हो गया।

एक पतिव्रता स्त्री को उसका पति बहुत डांटता था— तू ऐसी है, तू वैसी है, पगली है, इत्यादि, किन्तु फिर भी उस स्त्री को बहुत दुःख नहीं होता था; किन्तु एक दिन उसके पति ने कहा— तू मेरी नहीं है, जा, मैं तुझे अपनी नहीं मानता। स्त्री अब महादुखी हो गई।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कह रहे हैं कि जब तुम अपने स्वभाव में नहीं रहते हो, विभावों में रहते हो, तब तुम अपने नहीं रहते हो, पराये हो जाते हो, स्वसमय नहीं रहते हो, परसमय हो जाते हो। काश, हमें उनकी बात समझ में आए !



प्रतिक्रमणादि : विषकुंभ या अमृतकुंभ?

जीवन की शुद्धि में प्रतिक्रमणादि की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। जैनाचार्यों ने प्रतिक्रमणादि का विधान बनाकर हम पर बड़ा भारी उपकार किया है। जो मन मलिन तो शीघ्र हो जाता है, पर फिर कैसे भी आसानी से शुद्ध नहीं होता, वह प्रतिक्रमणादि से सहज ही शुद्ध हो जाता है। जिसप्रकार मलिन वस्त्र साबुन लगाने से स्वच्छ हो जाता है, उसीप्रकार प्रतिक्रमणादि के द्वारा मन की मलिनता दूर हो जाती है, मन शुद्ध हो जाता है। अतः प्रतिक्रमणादि निःसन्देह अमृतकुम्भ हैं। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सभी शास्त्र और सभी आचार्य इस विषय में एकमत हैं।

किन्तु शास्त्रों में ही कुछ स्थानों पर (समयसार, गाथा 306 आदि में) प्रतिक्रमणादि को भी विषकुम्भ कहकर एक विशेष महत्वपूर्ण विषय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। हमें उसे भी गंभीरतापूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए। उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें हमारी ही हानि है, हम एक महत्वपूर्ण विवक्षा को समझने से वंचित रह जाएंगे।

कुछ लोग तो आज ऐसे पाठ को 'अशुद्ध' कहकर 'शुद्ध' करने में लग गये हैं, उसे बदलने में लग गये हैं। किन्तु वे तो और भी बड़ी गलती कर रहे हैं, हमेशा के लिए ही समझने कर अवसर बन्द कर रहे हैं। आने वाली पीढ़ियों को भी जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित एक महत्वपूर्ण विवक्षा से वंचित करने का घोर अपराध कर रहे हैं। अतः प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहने की विवक्षा को उपेक्षित करने या बदलने की बजाय गंभीरतापूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसी में हमारा और शास्त्र का हित है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, प्रतिक्रमणादि को विषकुंभ कहने की विवक्षा निम्नानुसार हो सकती है— जिसप्रकार मलिन वस्त्र को साबुन लगाना उपयोगी होता है, किन्तु एकदम स्वच्छ वस्त्र को साबुन लगाना ठीक नहीं, उसीप्रकार प्रतिक्रमणादि सापराध आत्मा के लिए उपयोगी कहे हैं, निरपराध आत्मा के लिए नहीं, वह तो प्रतिक्रमणादि एवं अप्रतिक्रमणादि के सर्व विकल्पों से पार है।

यदि प्रतिक्रमणादि सर्वथा उपादेय होते तो वीतराग परमात्मा भी उन्हें करते,

अतः स्पष्ट है कि निर्विकल्प समाधि वालों को प्रतिक्रमणादि भी आकुलतोत्पादक होने से विषकुंभ प्रतीत होते हैं।

जिसप्रकार जेल से छूटना और उसके उपाय करना अच्छी बात है, किन्तु जो जेल में ही नहीं गये हैं, उन्हें जेल से छूटने की बात भी बुरी ही लगती है, उसीप्रकार अति उच्च भूमिका वालों को प्रतिक्रमणादि भी विषकुंभ प्रतीत होते हैं।

जिसप्रकार क्षमा माँगना बहुत अच्छी बात कही जाती है, किन्तु क्षमा वही तो माँगेगा जो कुछ गलती करेगा। जो गलती नहीं करता है, निर्दोष रीति से अपना काम ही करता है, उसके लिए क्षमायाचना करते रहना भी अपने कार्य में बाधक होने से हेय है।

जिसप्रकार समाधितंत्रादि (श्लोक 83, 84) शास्त्रों में अव्रतों की तरह व्रतों को भी हेय कहा है,¹ उसी प्रकार प्रतिक्रमणादि को भी अप्रतिक्रमणादि की तरह हेय कहा जा सकता है। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है, बल्कि बहुत उपयोगी ही है।

इसीप्रकार से कुछ और भी सोचा-समझा जा सकता है। मैं ही नहीं, आप भी सोच-समझ सकते हैं और प्रतिक्रमणादि को विषकुंभ कहने वाली विवक्षा का भी आनन्द ले सकते हैं। पाठ बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है। विगत दो हजार वर्षों से आज तक किसी ने नहीं बदला है। वैसे भी हम स्याद्वादियों को इसकी आवश्यकता कभी नहीं पड़नी चाहिए।

प्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ कहने वाली विवक्षा समयसार के सभी टीकाकारों को भी भलीभाँति ज्ञात थी, उन्होंने स्वयं उस अपेक्षा की चर्चा भी की है किन्तु फिर भी जोर देकर प्रतिक्रमणादि को विषकुंभ कहने वाली अपेक्षा को भी स्पष्ट किया है, तो हमें भी दोनों विवक्षाओं को सावधानीपूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए।



1. “अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत।” —आचार्य पूज्यपाद, समाधितंत्र, 83
वर्क अतः मोक्षार्थी को अव्रतों की तरह व्रत भी छोड़ देने चाहिए।

तम्हा सत्थं समधिदव्वं

एक दिन मैंने स्वप्न में आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के दर्शन किये और उनसे तत्त्वचर्चा भी की। मैंने उनसे पूछा— “हे भगवन्! आपने समयपाहुड आदि बड़े-बड़े 84 पाहुडग्रन्थ लिखे हैं, षट्खंडागम आदि ग्रन्थों की विशाल टीकाएँ भी लिखी हैं, परन्तु मुझे तो आप कृपया संक्षेप में सार बताइए कि मैं क्या करूँ? मेरा कर्तव्य क्या है? मेरा कल्याण कैसे हो?”

वे बोले— “‘तम्हा सत्थं समधिदव्वं’ अर्थात् भलीभांति शास्त्रों का अध्ययन करो।”

“शास्त्रों का अध्ययन तो मैं बहुत करता हूँ भगवन्, पर उससे कुछ नहीं हो रहा।”

“होगा, अवश्य होगा, उसी से सब होगा, परन्तु अभी उसमें बहुत कमी है, भलीभांति अध्ययन करो, अध्ययन में समीचीनता लाओ, गुणवत्ता लाओ— सत्थं समधिदव्वं।”

“लेकिन अकेले अध्ययन से क्या होगा गुरुदेव?”

“देखो, अध्ययन से समीचीन ज्ञान होगा और ज्ञान ही सबका मूलाधार है— इस बात को बड़ी सावधानी से समझो। देखो, पूरी जिनवाणी में धर्म के तीन साधन/उपाय कहे हैं— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा सच्ची करो, सम्यग्ज्ञान अर्थात् ज्ञान सच्चा करो और सम्यग्चारित्र अर्थात् अपना आचरण सच्चा करो। इस प्रकार यहाँ तीन उपाय कहे गये हैं, किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो वास्तव में श्रद्धा और चारित्र को सच्चा करने के लिए भी सच्चे ज्ञान की ही जरूरत है, अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसे कि हमें अपनी श्रद्धा बदलनी है, किन्तु श्रद्धा कोई कटोरी/गिलास नहीं है कि हम उसे हाथ से पकड़ कर पलट देंगे, अपितु वह तो जब सच्चा ज्ञान होगा तब सहज ही बदलेगी, अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञान सच्चा हुए बिना श्रद्धा कभी नहीं बदल सकती। वह अंध श्रद्धा तो हो सकती है, किन्तु सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती; अतः श्रद्धा बदलने का पुरुषार्थ भी हमें ज्ञान में ही करना है। इसी प्रकार हमारा आचरण भी वास्तव में सच्चा ज्ञान होने पर ही सही से बदलेगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार हम

देखते हैं कि वास्तव में समीचीन ज्ञान ही सबका मूल कारण है। समीचीन ज्ञान हुए बिना कथमपि श्रद्धान-आचरण आदि कुछ नहीं हो सकता और यदि समीचीन ज्ञान हो जाए तो श्रद्धान-आचरण आदि सब कुछ हुए बिना नहीं रहता। तथा ऐसा वह समीचीन ज्ञान शास्त्राध्ययन से ही होता है, अतः हमें अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा समीचीन शास्त्राध्ययन में ही लगा देनी चाहिए, यही एक हमारा मुख्य कर्त्तव्य है— ‘तम्हा सत्थं समधिदव्वं’।”

“लेकिन गुरुदेव! हम बहुत शास्त्राध्ययन करते हैं, कुछ होता क्यों नहीं?”

“देखो, मैं कोरे शास्त्राध्ययन की बात नहीं कह रहा हूँ, समीचीन शास्त्राध्ययन की बात कह रहा हूँ— ‘समधिदव्वं’। समीचीन शास्त्राध्ययन से अवश्य ही समीचीन ज्ञान की प्राप्ति होती है और समीचीन ज्ञान प्राप्त होने पर समीचीन श्रद्धा और चारित्र भी अवश्य ही प्रकट होते हैं, अतः हमें अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा समीचीन शास्त्राध्ययन द्वारा समीचीन ज्ञान की प्राप्ति करने में ही लगा देनी चाहिए— ‘तम्हा सत्थं समधिदव्वं’।

“हे भगवन्! हमारा शास्त्राध्ययन कैसे समीचीन हो— कुछ इसके विषय में भी बताइए न? कहाँ क्या कमी रह जाती है हमारे शास्त्राध्ययन में— बताइए गुरुदेव!”

तब आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मुझे इस प्रकार समझाया—

“देखो, सर्वप्रथम तो शास्त्र के चयन में ही बहुत लोगों से भूल हो जाती है। वे शास्त्र की बजाय शस्त्र का चयन कर लेते हैं। जो मोह-राग-द्वेषादि का पोषण करते हैं वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं। शास्त्र तो वही हो सकते हैं जो हमें येन-केन प्रकारेण मोह-राग-द्वेषादि से मुक्त करें। अतः सर्वप्रथम तो हमें समीचीन शास्त्र का चयन करना चाहिए।

उसके बाद हमें उस समीचीन शास्त्र को भी बिना किसी आतंक, भय या दबाव के ही पढ़ना चाहिए। किसी भी प्रकार का आग्रह, पक्षपात आदि भी नहीं रखना चाहिए। पूर्णतः वैज्ञानिक विधि से ही पढ़ना चाहिए। यद्यपि इसका अर्थ यह भी नहीं है कि उनके प्रति कोई विनय ही न हो। विनय और विवेक का समुचित समन्वय होना चाहिए।

पुनश्च, शास्त्रों की बातों को दूसरों की देखादेखी नहीं मानना चाहिए, स्वयं युक्ति और स्वानुभव से उसकी परीक्षा करनी चाहिए। अधिकतर लोग दूसरों की देखादेखी ही बातों को मानते रहते हैं, उन्हें पता भी नहीं चलता कि अभी उन्हें स्वयं से बात समझ में नहीं आई है। अतः इस विषय में बहुत अधिक सजग रहने की आवश्यकता है। भय, चिंता आदि छोड़कर स्वयं अत्यंत सावधानी से तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। अपने प्रति पूर्ण ईमानदार रहना चाहिए। बहुत से लोग ऐसे हैं जो तत्त्व को ठीक से समझे नहीं, पर देखादेखी हाँ हाँ करने लगते हैं और इस

प्रकार वे स्वयं को ही धोखा देने लगते हैं।

शास्त्र पढ़ते समय केवल शब्दों में नहीं अटकना चाहिए, उसके वाच्य अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। जैसे हम नक्शे में देखकर कहते हैं कि यह गंगा है, यह हिमालय है, आदि तो वास्तव में वह गंगा या हिमालय आदि नहीं है, वहाँ नक्शे में शीतलता नहीं है, हमें नक्शे के माध्यम से वास्तविक गंगा, हिमालय आदि का ज्ञान का करना होता है, उसी प्रकार शास्त्र पढ़ते समय हमें उसकी वाच्यभूत वस्तु का ज्ञान करना चाहिए। बहुत से लोग शब्दों में ही अटके रह जाते हैं, उन्हें ऊपर-ऊपर से रटकर संतुष्ट रह जाते हैं। यह समीचीन शास्त्राध्ययन नहीं है।

शब्दों के वाच्यभूत अर्थ को ठीक से समझने के लिए उनका बारम्बार गहराई से मंथन करना चाहिए, उन्हें ठीक से पचाना चाहिए। वाचन से पाचन महान है।

शास्त्राध्ययन करते समय कथनों की समीचीन विवक्षा समझना भी अत्यंत आवश्यक है। जहाँ जो कथन जिस अपेक्षा से किया गया हो, उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए। यह बहुत बड़ी चुनौती है। बड़े-बड़े लोगों से इसमें चूक हो जाती है।

बहुत से लोग शास्त्रों के अनुवादों को पढ़ते हैं, परन्तु अनुवादों में पूरा भाव नहीं आ पाता, अनुवाद तो हमारी मजबूरी होता है, अतः स्वाध्याय में गुणवत्ता लाने के लिए शास्त्रों की मूल भाषा सीखने का प्रयास करना चाहिए, उससे अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। इसीप्रकार व्युत्पत्ति, शब्दार्थ, लक्षण, भेद-प्रभेदादि कंठस्थ करके अपने स्वाध्याय में गुणवत्ता बढ़ानी चाहिए। यही हमारा मुख्य कर्तव्य है।”

इसी प्रकार की और भी अनेक महत्वपूर्ण बातें पूज्य आचार्यदेव ने मुझे बताई और एक बार अंत में पुनः जोर देकर कहा कि देखो, तुम तो एक ज्ञान से ही प्रीति करो, ज्ञान में ही संतुष्ट रहो और ज्ञान में ही तृप्त रहो, बस एक ज्ञान से ही तुम्हारा परम कल्याण होगा। ज्ञान ही प्रतिक्रमण है, ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान ही दीक्षा है, ज्ञान ही सब कुछ है, शास्त्रों में हजारों कार्य करने के लिए बताए गये हैं, परन्तु उन सबका भी मूलाधार एक ज्ञान ही है, अतः एक ज्ञान की ही उपासना करो। बस, इतना ध्यान रखो कि यह ज्ञान समीचीन हो।

तथा समीचीन ज्ञान का साधन समीचीन शास्त्राध्ययन है, अतः रुचिपूर्वक शास्त्राध्ययन का आश्रय ग्रहण करना चाहिए— ‘तम्हा सत्थं समधिदव्वं’। हमारी आत्मा पर अनादि काल से मोह (दर्शनमोह-चारित्रमोह) का अंधकार/नशा छाया हुआ है, उसे दूर करने में एक समीचीन शास्त्राध्ययन ही समर्थ है।

विशेषतः इस पंचम काल में तो एक शास्त्राध्ययन ही परम शरण है, अतः निरंतर समीचीन शास्त्राध्ययन करना ही हमारा एक मात्र कर्तव्य है— ‘तम्हा सत्थं समधिदव्वं।’

संदर्भ-

1. 'जिणसत्थादो अट्टे.....तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।' —प्रवचनसार, 80
2. 'तम्हा पच्चक्खाणं णाणं गियमा मुणेदव्वो ।' —समयसार, 34
3. 'णाणं दिक्खा ।'
4. 'णाणं पडिक्कमणं ।'
5. 'एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ।' —समयसार, 206



दुनिया के 'दस' आश्चर्य*

आपने विश्व के अनेक आश्चर्यों के बारे में सुना होगा, सात आश्चर्यों के बारे में तो अवश्य ही सुना होगा; किन्तु वास्तव में देखा जाए तो वे सभी आश्चर्य क्षणभंगुर हैं, एक स्थूल अपेक्षा से ही 'आश्चर्य' कहे जा सकते हैं, अन्यथा उनमें कुछ भी विशेष आश्चर्य की बात नहीं है, वे तो पुद्गलद्रव्य के परिणमन मात्र हैं, अनादिकाल से आज तक इतिहास में ऐसे न जाने कितने आश्चर्य उत्पन्न होकर काल के गाल में समा चुके हैं। अतएव आइए, आज हम कुछ ऐसे अद्भुत आश्चर्यों के बारे में जानते हैं, जो वास्तव में ही बड़े आश्चर्य के विषय हैं और गम्भीरतापूर्वक चिंतनीय हैं।

इन असली आश्चर्यों का वर्णन हमारे ऋषि-मुनियों के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथा—

vk'p;-l[;k 1— प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, पहले भी मरे थे और आगे भी मरेंगे; न कभी कोई बचा है और न कोई बचेगा, मृत्यु अनिवार्य सत्य है, सभी इसकी लाइन में लगे हुए हैं और अपनी-अपनी बारी आने पर निश्चित रूप से मरते हैं; फिर भी दुनिया के जीवित लोग मृत्यु से बच जाना चाहते हैं, सदा ही जीवित बने रहना चाहते हैं— यह संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है—

“अहनि अहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।

शेषाश्जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥”

—महाभारत

vk'p;-l[;k 2 लोग मृत्यु को आश्चर्य समझते हैं, किन्तु मृत्यु तो जन्म के साथ स्वाभाविक रूप से संबद्ध ही है, सभी देहधारियों की प्रकृति ही है— ‘मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्’, उसमें आश्चर्य क्या? आश्चर्य तो शरीर में जीवन का टिके रहना है, क्योंकि यह शरीर नव द्वारों के पिंजरे के समान है और इसमें रहने

* यहाँ शीर्षक में 'दस' शब्द का अर्थ सीधे-सीधे 10 नहीं, अपितु 'अनेक' समझना चाहिए, क्योंकि यह लाक्षणिक प्रयोग है। महाकवि धनंजय के अनुसार चित्र, आश्चर्य, अद्भुत, चोद्य, विस्मय, कौतुक, अहो— ये सब पर्यायवाची हैं। यथा—

‘चित्राश्चर्याद्भुतं चोद्यं विस्मयः कौतुकोऽप्यहो ।’

—नाममाला, 173

वाला आत्मा किसी तोता आदि पक्षी के समान है। नौ द्वारे के पिंजरे में तो पक्षी का रहना ही आश्चर्य का विषय हो सकता है, उड़कर चले जाना नहीं—

“नौद्वारे का पीजरा, तामै पंछी मौन।

रहिबे को है आचरज, गए अचंभा कौन ॥”

—कबीरदास

vk'p;-l[;k 3& कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा है या नहीं— कौन जाने, परन्तु यह भी संसार का एक बहुत बड़ा आश्चर्य ही है कि आत्मा स्वयं ही है, फिर भी आत्मा के अस्तित्व में शंका करता है—

“आत्मानि शंका करे, आत्मा पोते आप।

शंकानो करनार ते, अचरज यहै अमाप ॥”

—श्रीमद् राजचंद्र, आत्मसिद्धि

vk'p;-l[;k 4& संसार के विषय-भोगों की अथवा मोह-राग-द्वेष की बातें करने वाले और उनमें ही लिप्त लोग तो इस दुनिया में बहुत हैं, गली-गली में, घर-घर में आसानी से मिल जाते हैं, किन्तु ज्ञानमय आत्मतत्त्व का कुशल वक्ता और ज्ञाता मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, बड़े भारी आश्चर्य का विषय है—

“श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धमाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ॥”

—कठोपनिषद्, 2/7

यही बात समयसार गाथा 4 में भी कही गई है कि काम-भोग-बन्ध की कथा तो अत्यन्त सुलभ है, किन्तु एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा अत्यन्त दुर्लभ है।

vk'p;-l[;k 5& इस कलिकाल में मनुष्य का चित्त अत्यन्त चलायमान हो गया है, क्षण भर में किसी भी बात पर मलिन हो जाता है और उसका शरीर भी मानों अन्न का कीड़ा ही बन गया है, सदा सर्वत्र कुछ भी खाता- पीता रहता है; कोई भी समय, कोई भी स्थान और कोई भी वस्तु ऐसी नहीं बची जिसका संयम रख सके; स्कूल-कॉलेज, बाजार-स्टेशन, अस्पताल, सिनेमाघर, चौराहा आदि सभी स्थानों पर चौबीसों घण्टे कुछ भी खाता रहता है। जिस प्रकार अन्न का कीड़ा अन्न में ही पैदा होता है, अन्न को ही सदा खाता रहता है, उसी में मल-मूत्र करता है और अन्त में उसी में मर जाता है, वैसी ही हालत आज के इस आदमी की हो रही है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि आज ऐसी स्थिति में भी कुछ मनुष्य महाव्रती मुनिराज होते हैं—

“काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।

एतत् चित्रं यदद्यापि जिनलिङ्गधराः नराः ॥”

—सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8/339

vk'p;-l[;k 6& अहो, एक छोटा-सा बच्चा भी पलंग से गिर जाने से डरता है, गिरना नहीं चाहता है; किन्तु कोई नादान व्रती-संयमी पुरुष अपने त्रिलोकशिखर-सम उच्च संयम-तप से पतित हो जाने से भी नहीं डरता— यह बड़ा आश्चर्य है—

“चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद् धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्विभेति ।
शय्यातलादपि तुकोऽपि भयं प्रपातात्, तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम् ॥”

—आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, 166

vk'p;-l[;k 7& अमृत की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ है, फिर यदि कोई पुरुष उसका पान करके भी वमन कर दे तो बड़े आश्चर्य की बात है; उसी प्रकार जो जीव संयम-निधि को प्राप्त करके भी उसका त्याग कर दे तो यह बड़े ही आश्चर्य की बात है—

“सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किं तु विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः ।
पीत्वामृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥”

—आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, 168

vk'p;-l[;k 8& जगत में सभी लोग सदा अपनी मनमानी करते रहते हैं, किन्तु जैन-मुनियों की तपस्या अत्यन्त आश्चर्यजनक है, जिसमें बिल्कुल मनमानी नहीं चलती, सदा जिनवाणी की आज्ञानुसार ही प्रवर्तन करना होता है—

“चित्रं जैनी तपस्या हि स्वैराचारविरोधिनी ।”

—क्षत्रचूड़ामणि, 2/15

vk'p;-l[;k 9& जो जल गन्दगी दूर करने के काम आता है उसे ही यदि कोई गन्दा कर दे तो वह बड़ा अभाग है, उसी प्रकार जो संयम-तप पापों को मिटाने के लिए धारण किया जाता है, उसी से कोई जीव निरन्तर पाप बन्ध करे तो वह बड़ा अभाग है और यह बड़ा ही दुःखद आश्चर्य है—

“विशुद्ध्यति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम् ।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरः परः॥”

—आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, 167

vk'p;-l[;k 10— देव (भगवान) तो इस देहरूपी देवालय में विराजमान है, परन्तु आश्चर्य है कि लोग उसे मन्दिरों में ऐसे खोजते फिरते हैं मानों सिद्ध भिक्षा हेतु भ्रमण करते हैं—

‘देहा देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिं निएइ ।
हासउ महु पडिहाइ इहु, सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥”

—मुनिराज योगीन्दु, योगसार, 43

vk'p;-l[;k 11& जिस प्रकार कस्तूरी तो अपनी नाभि में होती है और मृग उसे वन में ढूँढ़ता हुआ भटकता है, उसी प्रकार राम (भगवान, सुख-शांति) तो हमारे हृदय में है और हम उसे दुनिया में ढूँढ़ते हुए भटक रहे हैं, अपने अंदर नहीं देख रहे हैं—

“कस्तूरी कुंडल बसे, मृग ढूँढ़े वन मांहि ।
ऐसे घट-घट राम है, दुनिया देखे नांहि ॥”

vk'p;-l[;k 12— जगत में सभी लोगों के पास आत्मा का अनमोल खजाना है, किन्तु आश्चर्य है कि लोग उसे नहीं देखते और कंगाल बने रहते हैं—

“सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं ।
यातें भयो कंगाल, गाँठ खोल देखी नहीं ॥”

vk'p;-l[;k 13— सरस्वती का भंडार बड़ा ही आश्चर्यजनक है, क्योंकि वह खर्च करने से बढ़ता है और संचय करने से घटता है—

“अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति !
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥”
“सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूर्व बात ।
ज्यों खरचे त्यों-त्यों बढ़े, बिन खरचे घट जाता ॥”

vk'p;-l[;k 14— अंधा कुँ में गिर सकता है, बहरा हितकर उपदेश नहीं सुन पाता है, किन्तु आश्चर्य है कि यह अज्ञानी जीव देखता-सुनता हुआ भी नरकादि दुर्गति में गिर जाता है—

“अंधो णिवड्ढ कूवे बहिरो ण सुणेदि साधु उवएसं ।
पेच्छंतो निसुणंतो निरएं जं पड्ड तं चोज्जं ॥”

vk'p;-l[;k 15— बड़ा आश्चर्य है कि लोग पुण्य का फल तो चाहते हैं, परन्तु पुण्य को नहीं चाहते (करते) और पाप का फल नहीं चाहते हैं, परन्तु पापों को ही सदा करते रहते हैं—

“पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥”

vk'p;-l[;k 16— परमात्मा बनने का आश्चर्यजनक रहस्य यह है कि जो कुछ नहीं चाहता, सदा यह भावना करता है कि मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ नहीं है, वही त्रैलोक्यधिपति बनता है—

“अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतेर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥”

—आत्मानुशासन, 110

vk'p;-l[;k 17— ज्ञान तो सुखदायक ही होता है, पर देखो आश्चर्य कि मिथ्यात्व के कारण ज्ञान भी दुखदायक बन रहा है—

“याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ।”

—कविवर दौलतराम, छहढाला, 2/7

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक सच्चे आश्चर्य हमारे तत्त्वद्रष्टा ऋषि-मुनियों ने ग्रन्थों में बताये हैं, हमें उन पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। सदैव दुनिया के तथाकथित बाह्य आश्चर्यों में ही उलझे रहना ठीक नहीं। उनमें उलझने से राग-द्वेष की वृद्धि होती है और उपरिलिखित सच्चे आश्चर्यों पर ध्यान देने से ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि होती है।

जब तक जीव को बाहरी भौतिक वस्तुएँ ही ‘आश्चर्य’ के नाम से आकर्षित करती रहेंगी, तब तक वह अपने अंतरंग धर्म— अध्यात्म की ओर उन्मुख नहीं हो सकेगा। आसन्नभव्य जीवों को तो भवतापहारी जिनवचन ही आश्चर्यजनक और अत्यन्त आकर्षक लगते हैं। वे सोचते हैं कि—“अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं थी, मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बार-बार समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।”

—पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 257

इसप्रकार हमें अब धर्म के क्षेत्र में ही आश्चर्य भासित होना चाहिए। भैया भगवतीदासजी ने अपनी काव्य-रचना **vk'p;prn'kh** में भी ऐसे ही आश्चर्यों का वर्णन किया है, जो पठनीय है।

राजा श्रेणिक को सर्वप्रथम यशोधर मुनिराज की क्षमा/समता भावना देखकर महान् आश्चर्य हुआ था और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई थी।

यदि हमें बाहरी जगत में भी आश्चर्य लगे तो ऐसा लगना चाहिए जैसाकि कविवर पं. बनारसीदासजी को लगा था—

नानी मरन सुता जनम, पुत्र-वधू आगौन ।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही मौन ॥
यह संसार विडम्बना, देख प्रगट दुःख खेद ।
चतुरचित्त त्यागी भये, मूढ न जाने भेद ॥

—अर्द्धकथानक

देखों संसार की विडम्बना, जन्म, मरण और परण (विवाह)— ये तीनों कार्य एक ही दिन एक ही घर में घटित हुये। संसार के दुखरूप को देखकर चतुर व्यक्ति तो त्यागी बन जाते हैं किंतु अज्ञानी इसका रहस्य नहीं जान पाते। ❖❖

यह जगत् एक खुली किताब है

अध्यापक, पाठशाला और पुस्तकों से तो सभी शिक्षा ग्रहण करते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष तो जगत् की सर्व वस्तुओं से ही सदा शिक्षा ग्रहण करते हैं। उनके लिए यह जगत् किसी पाठशाला से कम नहीं है, अपितु कुछ बढ़कर ही है। दुनिया की अन्य पाठशालाएँ तो अनेक बन्धनों से बँधकर थोड़े समय के लिए ही खुलती हैं, परन्तु यह जगत् सदैव और सबके लिए खुलने वाली एक ऐसी अनुपम पाठशाला है जिसका प्रत्येक पदार्थ ही ज्ञानियों को उत्तम शिक्षा देते हुए गुरु के समान प्रतीत होता है। संभवतः यही कारण है कि आचार्य उमास्वामी ने भी संवेग और वैराग्य की वृद्धि के लिए ज्ञानियों को इस जगत् एवं काया के स्वभाव के चिंतन की प्रेरणा दी है—

‘जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।’ —तत्त्वार्थसूत्र, 7/2

वैदिक पुराण ‘श्रीमद्भागवत’ (11/9) में भी इसी आशय को समझाने वाला एक अवधूत-प्रकरण आता है, जो बड़ा ही रोचक एवं शिक्षाप्रद है। वहाँ एक अवधूत से पूछा गया है कि आपके गुरु कौन हैं, आपने किनसे शिक्षा प्राप्त की है जो सदैव इतने प्रसन्न रहते हैं? तब अवधूत उत्तर देता है कि— मैंने जगत् की निम्नलिखित 24 वस्तुओं से शिक्षा प्राप्त की है, ये मेरे गुरु हैं। यथा संक्षेप में—

- 1- **iFoh**— कोई कितना भी कष्ट पहुँचाए, पर सन्मार्ग से विचलित न होने की धैर्य-शिक्षा देती है।
- 2- **ok;**— सबके बीच रहकर भी सदा निर्लिप्त रहने की शिक्षा देती है।
- 3- **vkdk'k**— सबके बीच रहकर भी सदा शुद्ध बने रहने की शिक्षा देता है।
- 4- **ty**— सदैव शीतल, मधुर एवं पवित्र रहने की शिक्षा देता है।
- 5- **vfxu**— सदैव तेजस्वी, दैदीप्यमान और अक्षोभ्य रहने की शिक्षा देती है।
- 6- **pUæek**— कलाओं के नित्य घटते-बढ़ते रहने पर भी सदा पूर्ण व शीतल रहने की शिक्षा देता है।
- 7- **l;**— सबके प्रति सदा निष्पक्ष रहने की शिक्षा देता है।

- 8- **dikr**— अधिक प्रेम में आसक्त होने वाला दुःखी होता है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 9- **vtxj**— सहज मिले तो खाकर पेट भर ले और निरीह भाव से रहे —ऐसी शिक्षा देता है।
- 10- **leæ**— शांत, गंभीर, अगम्य, अभेद्य, अनन्त, अक्षोभ्य रहने की शिक्षा देता है।
- 11- **irx**— इन्द्रिय-विषयों में मोहित रहने वाला प्राणी मरणान्त दुःखी होता है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 12- **e/keD[kh**— संचय नहीं करना चाहिए; संचय करनेवाले को नष्ट होना पड़ता है— ऐसी शिक्षा देती है।
- 13- **e/kgkjh**— संचित परिग्रह अंततः दुःख देकर अन्य के पास चला जाता है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 14- **gkFkh**— लकड़ी की भी स्त्री से संपर्क करोगे तो बंधनों में पड़ोगे —ऐसी शिक्षा देता है।
- 15- **fgj.k**— कर्णेन्द्रिय के विषय-सेवन से भी मरणान्तक कष्ट प्राप्त होता है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 16- **ehu**— रसनेन्द्रिय के विषय-सेवन से भी मरणान्तक कष्ट प्राप्त होता है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 17- **o';k**— वेश्या का कथानक 'आशा हि परमं दुःखं, नैराश्यं परमं सुखम्' —ऐसी शिक्षा देता है।
- 18- **dijj i{k**— संचय दुःख का कारण है और त्याग सुख का कारण है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 19- **ckyd**— सदा निश्चिन्त और आनन्दमय रहने की शिक्षा देता है।
- 20- **dekjh-dd.k**— एकाकी ही सुखी है, बहुतों के साथ रहना तो दुःख है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 21- **ck.k**— अद्भुत एकाग्रता एवं लक्ष्य के प्रति निष्ठा रखने की शिक्षा देता है।
- 22- **l i:**— किसी भी आवास में रह ले, पर घर बनाने की चिंता न करे —ऐसी शिक्षा देता है।
- 23- **edMh**— यह जीव अपने ही राग-द्वेष में उलझकर दुःखी होता है —ऐसी शिक्षा देता है।
- 24- **Hkixh dhV**— जड़ पदार्थों में बुद्धि लगाने से जीव भी जड़ हो जाता है— ऐसी शिक्षा देता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रों में यत्र-तत्र कथन आते हैं कि हम जगत् की अन्य वस्तुओं से भी ज्ञान-वैराग्य की सुखद शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। यथा—

तराजू— तराजू के दो पलड़े हमें यह शिक्षा देते हैं कि जो ग्रहण या संचय करता है उसका अधोपतन होता है और जो त्याग करता है वह ऊपर उठता है। यथा—

“अघो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः॥”

—आत्मानुशासन, 154

याचक— याचक यह शिक्षा देता है कि पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी का दान न करके अकेले ही भोगने की लालसा रखने वाले जीवों को ऐसी याचक दशा प्राप्त होती है, अतः दान में तत्पर रहना चाहिए—

“याचका नैव याचन्ते बोधयन्ति गृहे गृहे ।
दीयतां दीयतां लोकेष्वदानात् फलमीदृशम् ॥”

—सुदृष्टितरंगिणी

“याचक नांहि माँगते, घर-घर देते ज्ञान ।
देहु देहु हे सत्पुरुष, नहीं दिया मुझ जान ॥”

चक्की— चक्की यह शिक्षा देती है कि जो अपने ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेते हैं वे ही सुरक्षित रहते हैं और पर्यायों में मग्न रहने वाले सदा जन्म-मरण करते रहते हैं। यथा—

“चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय ॥”

अथवा—

“ध्रुव कीली के पास रहें वे दाने नहीं पिस पाते हैं ।
छिन्न-भिन्न पिसते हैं वे जो कीली से हट जाते हैं ॥”

सफेद बाल— सफेद बालों से शिक्षा मिलती है कि शीघ्र संन्यास धारण करो—

“मुक्तिश्रियः प्रणयवीक्षणजालमार्गाः, पुंसां चतुर्थपुरुषार्थतरुप्ररोहाः।
निःश्रेयसामृतरसागमनाग्रदूताः, शुक्लाः कचाः ननु तपश्चरणोपदेशा ॥”

—यशस्तिलकचम्पू 2/104

गधा— ज्ञानियों को तो गधे से भी बहुत शिक्षा मिलती है। यथा—

“अविश्रामं वहेत् भारं शीतोष्णं च न विन्दति ।
ससन्तोषस्तथा नित्यं त्रीणि शिक्षेत् गर्दभात् ॥”

अर्थात् गधे से तीन शिक्षाएँ ग्रहण करनी चाहिए— 1. सदा बिना थके काम

करना, 2. सर्दी-गर्मी की चिन्ता न करना, 3. रूखा-सूखा खाकर संतुष्ट रहना।

पनघट& करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।

रसरी आवत-जात तैं, सिल पर परत निसान ॥”

चींटी— चींटी यह शिक्षा देती है कि हमें सदैव अनुशासनपूर्वक चलना चाहिए, निरंतर चलना चाहिए और सामाजिक संगठन बनाकर रहना चाहिए—

“गच्छन् पिपीलिका याति योजनानि शतान्यपि।

अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं गच्छति ॥”

तोता— तोता उतना ही बोलता है जितना उसे सिखाया जाता है, उससे हीनाधिक नहीं। तथा वह पिंजरे में भी सदा निर्मोह रहता है, अवसर पाते ही मुक्त हो जाता है। हमें भी घर में ऐसे ही रहना चाहिए—

“तोते के भाव जैसे कभी तिर ही जाएंगे।

कबूतर के भाव जैसे कभी तिर न जाएंगे ॥”

इसीप्रकार और भी अनेकानेक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनका उल्लेख शास्त्रों में उपलब्ध होता है, परन्तु विस्तारभय के कारण उन्हें यहाँ लिखना संभव नहीं है। सबका तात्पर्य मात्र इतना है कि यह जगत् ज्ञान-वैराग्य की शिक्षा देने वाली एक अद्भुत पाठशाला है और हमें इसे पढ़कर उत्तम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जैसा कि असंख्य ज्ञानी कर चुके हैं और आगे भी करते रहेंगे। दुनिया की पाठशालाएँ तो अनेकानेक नियम-उपनियमों में बँधकर सीमित समय में ही खुलती हैं, उनमें सबको प्रवेश भी नहीं मिलता; किन्तु यह जगत् एक ऐसा खुला विश्वविद्यालय है जहाँ सब सदा निःशुल्क सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। ❖❖

ज्ञान और विवेक

‘ज्ञान’ और ‘विवेक’ —ये दो शब्द ऐसे हैं जो ऊपर-ऊपर से देखने पर समान अर्थ वाले प्रतीत होते हैं, किसी स्थूल अपेक्षा से इन्हें समानार्थक कहा भी जा सकता है, परन्तु सूक्ष्मता से देखा जाये तो वस्तुतः ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं, इनमें महान् अन्तर है। अतः हमें इनका प्रयोग विवेकपूर्ण करना चाहिये।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत विवेकपूर्वक किया है। जहाँ जो उपयुक्त है, वहाँ उसी का प्रयोग किया है।

व्याकरणशास्त्र के अनुसार ‘ज्ञान’ शब्द ‘ज्ञा’ धातु से बना है जिसका अर्थ है— जानना। किन्तु ‘विवेक’ शब्द ‘विच्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ पृथक्भाव होता है— भेद करना होता है; विभजनं विवेकः। ‘ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं’, किन्तु ‘विविच्यतेऽनेनेति विवेकः।’¹

अर्थात् ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, परन्तु विवेक का कार्य मात्र जानना नहीं अपितु हेय-उपादेय, स्व-पर आदि का भेद जानना है। यथा— स्व-पर-विवेक, नीर-क्षीर-विवेक² इत्यादि प्रयोग लोकप्रचलित भी हैं। इनमें ‘विवेक’ के स्थान पर ‘ज्ञान’ शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं है। आचार्यों ने कहा है—

‘चिज्जडयोर्भेदविज्ञानं विवेकः।’

अर्थात् चेतन व अचेतन का भेदविज्ञान ही विवेक है।

मोक्षमार्ग में इसी विवेक की उपयोगिता है, कोरे ज्ञान की नहीं। अध्यात्मप्रेमी कविवर पं. दौलतराम भी ‘देवस्तुति’ में लिखते हैं—

‘तुम गुण चिन्तत निज-पर-विवेक । प्रगटै विघटै आपद अनेक ॥’

अर्थात् हे जिनेन्द्रदेव ! आपके गुणों के चिंतन स्व-पर-विवेक प्रकट होता है और उसी से अनेक आपत्तियाँ दूर होती हैं।

तात्पर्य यही है कि सुख-शान्ति का कारण विवेक है, ज्ञान नहीं। यद्यपि शास्त्रों में अनेक-स्थानों पर ज्ञान को भी सुख का कारण कहा गया है, परन्तु वह धन-कन-कंचनादि भौतिक परपदार्थों से ध्यान हटाने के लिए ही कहा गया है कि हे जीव ! तू धनादि परपदार्थों को सुख का कारण मान रहा है, पर वास्तव में वे सब सुख के कारण नहीं हैं, सुख का कारण तो मात्र ज्ञान ही है। यथा—

‘धन कन कंचन राजसुख सबहि सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ॥’

—महाकवि भूधरदास, बारह भावना

परन्तु यदि जानना मात्र सुख का कारण हो, तो ‘नहीं जानना’ दुःख का कारण ठहरेगा, जो न्यायसंगत नहीं है, असत्य है। आचार्यकल्प पं. टोडरमल भी अपने ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में लिखते हैं—

“यदि जानना न होना दुःख का कारण हो, तो पुद्गल के भी दुःख ठहरे; परन्तु दुःख का मूलकारण तो इच्छा है और इच्छा क्षयोपशम से होती है; इसलिए क्षयोपशम को दुःख का कारण कहा है। परमार्थ से क्षयोपशम भी दुःख का कारण नहीं है।” अध्यात्मशास्त्रों में भी इसीलिए जिसे मात्र ज्ञान हो उसे ‘ज्ञानी’ नहीं कहते हैं, अपितु जिसे स्व-पर-भेदविज्ञान हो— विवेक हो, उसे ही ‘ज्ञानी’ कहते हैं।

ज्ञान और विवेक के अन्तर को समझने के लिए एक युक्ति यह भी है कि शास्त्रों में ज्ञान के मतिज्ञानादि भेद किये हैं। विचार करना चाहिए कि क्या उन्हें हम ‘विवेक के आठ भेद होते हैं’— ऐसा कह सकते हैं? यदि नहीं, तो अवश्य ही ‘ज्ञान’ और ‘विवेक’ में महान् अन्तर है।

सारांशतः हमें समझना चाहिए कि विवेक ही (स्व-पर-भेदविज्ञान) ही सुख का कारण है, मोक्षमार्ग है और उपादेय है। आज तक जितने भी जीव सुखी (सिद्ध) हुये हैं वे सब एक स्व-पर-भेदविज्ञान से ही हुये हैं और जितने भी संसार में परिभ्रमण करते हुये दुःख उठा रहे हैं, वे सब इस स्व-पर-भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही। कहा भी गया है कि—

‘भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन् ।

अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धाः ये किल केचन् ॥’

—आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति-कलश

1. श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के व्याकरण-विभाग के विद्वान् प्राध्यापक डॉ. जयकान्त शर्मा ने मुझे ‘विवेक’ शब्द की निष्पत्ति इसप्रकार समझाई है— “‘विविच्यतेऽनेनेति विवेकः। विविनक्ति सत्यासत्यं यथार्थायथार्थं कार्याकार्यं ग्राह्याग्राह्यमिति वा विवेकः। ‘वि’ उपसर्गाद् ‘विच्’ धातोः घञ् प्रत्यये अनुबन्धलोपे ‘चजो कुः घिण्यतोः’ इति सूत्रेण कुत्वे गुणे च इति ‘विवेक’ शब्द-निष्पत्तिः।”

इसका अभिप्राय है कि जो सत्य और असत्य, यथार्थ और अयथार्थ, कार्य और अकार्य अथवा ग्राह्य और अग्राह्य का भेद बताता है वही विवेक है।

? ‘प्राकृतविद्या’ के प्रस्तुत अंक के मुख-पृष्ठ पर चित्रित हंस नीर-क्षीर-विवेक का ही प्रतीक है, सामान्य-ज्ञान का नहीं। ❖❖

भय और अभय के स्थान

शास्त्रों में कहा गया है कि यह अज्ञानी जीव जिन चीजों पर विश्वास करता है वे तो वास्तव में भय के स्थान (कारण) हैं और जिनसे डरता है वे अभय के स्थान कारण हैं। यथा—

“मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततो नान्यद् भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥”

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितंत्र, 29

vFk& मूढ़ जीव जहाँ विश्वास करता है उससे अधिक भयास्पद और कुछ नहीं है। तथा जिससे डरता है उससे अधिक अभय का स्थान अन्य कुछ नहीं है।

यह बात पं. दौलतराम कृत ‘छहढाला’ में भी कही गयी है—

“रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन ।”
“आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान ।”

—छहढाला 2/5-6

यह बात बड़ी अटपटी लगती है, आसानी से समझ में नहीं आती; किन्तु आचार्यश्री इसे उदाहरण द्वारा इस तरह सरलता से समझाते हैं—

एक हिरण था। एक दिन वह अपने सुन्दर सींगों को देखकर बहुत खुश हो रहा था और साथ ही अपने कुरूप पैरों को देखकर बहुत दुःखी भी हो रहा था। तभी वहाँ एक शिकारी आ गया। हिरण दौड़कर भागने लगा। शिकारी भी उसके पीछे-पीछे भागने लगा। आगे चलकर एक झाड़ी में हिरण के सींग उलझ गये। हिरण को रुकना पड़ा। किन्तु वहीं पास में एक साधु पुरुष थे, उन्होंने दया करके हिरण के सींगों को झाड़ी में से सुलझा दिया। इतने में ही शिकारी भी आ पहुँचा और हिरण को माँगने लगा। किन्तु उन साधु पुरुष ने उसे ऐसा सदुपदेश दिया कि उसका (शिकारी का) हृदय-परिवर्तन हो गया। उसने आजीवन शिकार का त्याग कर दिया।

इसके बाद महात्माजी ने उस हिरण को समझाया—

देखो, जिन सींगों को देखकर तुम खुश हो रहे थे, वे तुम्हारी मृत्यु का कारण

बन रहे थे और जिन पैरों को देखकर तुम दुखी हो रहे थे वे ही तुम्हें बचाने के काम आये। समझे?

यही दशा हमारी है। हम परिग्रह एवं विषय-भोग सामग्री को सुख का साधन समझते हैं, जबकि उससे बड़ा दुःख का कारण और कोई नहीं है तथा संयम-तप-त्याग को दुःख व कष्ट का साधन समझते हैं, जबकि उससे बड़ा सुख का कारण और कोई नहीं है। ❖❖

विवेकी बन्दर

किसी वन में एक शेर रहता था। वह प्रतिदिन अपनी भूख शांत करने के लिए किसी एक बन्दर के पास जाता था। वह बन्दर तुरन्त पेड़ के ऊपर चढ़ जाता था। शेर बन्दर से नीचे उतरने को कहता था, पर बन्दर नहीं उतरता था।

तब वह शेर उस बन्दर को जमीन में पड़ने वाली उसकी छाया दिखाकर कहता था— “देख, यह यहाँ पर भी तू बैठा हुआ है, यदि तू नीचे नहीं उतरेगा तो मैं तेरी इसी छाया पर ऐसा झपट्टा मारूँगा कि तू नीचे गिर जाएगा।”

यह सुनकर बन्दर घबरा जाता था, क्योंकि वह छाया को अपना ही अंग मानता था और इसीलिए जब शेर उसकी छाया पर झपट्टा मारता था तो वह धड़ाम से नीचे गिर जाता था। शेर उसे खा जाता था।

यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। बहुत सारे बन्दर शेर के द्वारा मार दिये गये।

किन्तु एक दिन की बात, उसे एक बन्दर ऐसा मिला जो छाया को अपना नहीं मानता था, अतः शेर के बहुत बार वैसा कहने-करने पर भी वह बिल्कुल नहीं डरा। शेर ने छाया पर बहुत बार झपट्टे मारे, परन्तु सब व्यर्थ गये। थक कर शेर को वहाँ से जाना ही पड़ा।

भावार्थ यही है कि सर्वदुःखों का मूल शरीर को अपना मानना है। जगत् के सभी अज्ञानी जीव शरीर को अपना मानने के कारण ही नाना दुःख भोग रहे हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीर को अपना नहीं मानता, वह अपने से भिन्न मानता है, अतः उन्हें कोई दुःख नहीं होता, वह तो ज्ञाता-द्रष्टा रहकर आनंद भोगता है।

ज्ञान और आनन्द के महत्त्व को रेखांकित करती है दीपावली

दीपावली कब से और क्यों मनाई जाती है— इस विषय को फिलहाल छोड़ दें तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दीपावली भारतीय संस्कृति का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व है और उसे आज भी सर्वत्र बड़े ही उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। दीपावली आज भी पर्वों का राजा है।

विचारणीय है कि दीपावली का इतना अधिक महत्त्व क्यों है और उसका मूल सन्देश क्या है?

उत्तर— मेरी दृष्टि में दीपावली का मूल सन्देश यही होना चाहिए कि हम अपने जीवन में ज्ञान और आनन्द— इन दो चीजों का महत्त्व समझें, बड़ी ही गंभीरतापूर्वक समझें, क्योंकि दीपावली ज्ञान और आनन्द का पर्व है।

हम अपने घर की, बाहर की हर छोटी-मोटी चीज का महत्त्व समझते हैं, चाहे वह जड़ अचेतन ही हो, अपनी टूटी-फूटी चप्पल और रद्दी अखबार की भी कीमत समझते हैं; पर दीपावली कहती है कि आज तुम्हें ज्ञान और आनन्द का महत्त्व समझना होगा। दीपक ज्ञान का प्रतीक है, मिठाइयाँ आनन्द का प्रतीक हैं।

दीपावली का मूल सन्देश यह है कि जिस जीवन में ज्ञान और आनन्द है, वही जीवन वास्तविक जीवन है, उत्तम जीवन है। तथा जिस जीवन में ज्ञान और आनन्द नहीं है, वह जीवन जीवन नहीं, मरण है। सचमुच ही मरण है। ऐसा व्यक्ति तो चलता-फिरता शव है।

अतः अपने और दूसरों के जीवन में से अज्ञान एवं दुःख को दूर करना और ज्ञान एवं आनन्द को प्राप्त करना-कराना ही सही अर्थों में दीपावली मनाना है।

यद्यपि हम सभी जानते और कहते तो रहते हैं कि जीवन में ज्ञान और आनन्द का बड़ा महत्त्व है, परंतु फिर भी हम देखते हैं कि हमारे जीवन में ज्ञान और आनन्द की बहुत उपेक्षा होती रहती है। हम हर छोटी से छोटी चीज का महत्त्व/मूल्य समझ लेते हैं, उनकी हानि नहीं होने देते हैं; पर ज्ञान और आनन्द को जीवन में

सर्वोपरि नहीं रख पाते। तभी तो बारंबार ज्ञानाराधना छोड़कर जड़ भौतिक पदार्थों के चक्कर में उलझ जाया करते हैं। और इसीतरह अपने आनन्द स्वभाव को भूलकर व्यर्थ ही छोटी-छोटी बात पर दुःख मनाने लग जाते हैं। दीपावली हमें पुनः-पुनः याद दिलाने आती है कि जीवन में ज्ञान और आनन्द का महत्त्व समझो। जीवन रोटी-कपड़ा, सोना-चाँदी, नौकर-चाकर से नहीं सँवरता; ज्ञान से सँवरता है, ज्ञान से पवित्र विश्व में अन्य कुछ भी नहीं है—

‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।’ —गीता

“ज्ञान समान न आज जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृत रोग निवारण ॥”

—छहढाला

हे चक्रवर्ती भरत! तूने जो स्वप्न में जिसका मध्य भाग सूखा हुआ है, ऐसे ज्ञान की तरह आनन्द भी जीवन का एक बड़ा भारी मूल्य है। दीपावली हमें कहती है कि सदा आनन्दित रहो, कभी दुःखी मत होओ, चाहे कुछ भी हो जाए, आनन्द तुम्हारा स्वभाव है। खेद, ताप, संताप, तनाव, शोक, चिन्ता, भय आदि सब दुःख के ही विविध प्रकार हैं और तुम इन सबसे ऊपर उठकर सदैव आनन्द की आराधना में लगे रहो।

इसप्रकार दीपावली ज्ञान और आनन्द के महत्त्व को ही रेखांकित करनेवाला महापर्व है। काश, हम सब इसके इस मूल सन्देश को भलीभाँति सुनें-समझें।



1. “धन समाज गज बाज राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै॥”
2. “धन कण कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथार्थ ज्ञान॥”
3. “निशि का दीपक चन्द्र है, दिन का दीपक भान।
कुल का दीपक पुत्र है, तिहुं जग दीपक ज्ञान॥”
4. “न हि विषादो विधेयात्र तद्दि वैदुष्यजं फलम्।
vFk— ज्ञान का फल यही है कि कभी विषाद न हो।

‘समयसार’ में परिग्रह-अपरिग्रह की अवधारणा

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत ‘समयसार’ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक दृष्टिप्रधान ग्रन्थ है। इसमें आचार्यदेव ने दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन की अत्यधिक प्रधानता दिखलाई है। कहा है कि जिसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, वह भले ही कितना भी ज्ञान, चारित्र आदि धारण किये हो, मिथ्यादृष्टि, मूढ, अज्ञानी ही है तथा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है वह विशेष ज्ञान, चारित्र आदि से रहित होते हुए भी ज्ञानी है, सम्पूर्ण जिनशासन का ज्ञाता है, श्रुतकेवली है। इतना ही नहीं, ‘समयसार’ में तो सम्यग्दृष्टि को सर्वथा निरास्रव और निर्बन्ध तक कह दिया है।¹ ‘समयसार’ के अनुसार सम्यग्दृष्टि जीव के परमाणुमात्र भी राग नहीं पाया जाता।² वह तो पूर्णतः वीतराग हो चुका है, कृतकृत्य हो चुका है, वस्तुतः वह मुक्त ही है।

दरअसल, आचार्य कुन्दकुन्द कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार जिस वृक्ष की जड़ कट गई हो उसके पत्ते हरे-भरे/जीवित दिखाई दें तो भी उन्हें समाप्त ही समझना चाहिए और जिस वृक्ष की जड़ न कटी हो, उसके पत्ते टूट/सूख गये हों तो भी उन्हें हरे-भरे/जीवित ही समझना चाहिए। उसीप्रकार जिसका मिथ्यात्व चला गया उसका संसार अब समाप्त ही समझना चाहिए और जिसका मिथ्यात्व नहीं गया उसका संसार हरा-भरा ही समझना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) ही संसार-वृक्ष का मूल है और सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) ही मोक्षतरु का मूल है—

‘दंसणमूलो धम्मो’

—(दंसणपाहुड, गाथा 3)

इस प्रकार दृष्टिप्रधान ग्रन्थ होने के कारण ‘समयसार’ में परिग्रह-अपरिग्रह और परिग्रही-अपरिग्रही की अवधारणा भी अन्य ग्रन्थों से भिन्न प्रकार की दृष्टिगोचर होती है। उसके अनुसार परिग्रह तो एकमात्र मिथ्यात्व ही है, अन्य कुछ भी (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म सभी) वस्तुतः परिग्रह नहीं है। अतः जिसके पास मिथ्यात्व है— ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, भले ही वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि ही हो, वस्तुतः परिग्रही है और जिसके पास मिथ्यात्व नहीं है— ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, भले ही वह अविरत सम्यग्दृष्टि ही हो और उसके पास बहुत सारा बहिरंग-अंतरंग परिग्रह भी हो, पर वह अपरिग्रही ही है।

¹ णत्थि दु आसवबंधे सम्मादिट्ठस्स आसवणिरोहो। (166)

² परमाणुमित्तयंपि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।

णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।। (201)

‘समयसार’ की गाथा 210 से 213 में आचार्य कुन्दकुन्द युक्ति-पूर्वक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सर्वथा अपरिग्रही होता है, क्योंकि उसके कोई इच्छा नहीं होती; वह पुण्य, पाप, भोजन, पान आदि कुछ भी नहीं चाहता। यथा—

“अपरिग्णहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं ।
अपरिग्णहो दु धम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ (210)
अपरिग्णहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्णहो अधम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ (211)
अपरिग्णहो अणिच्छो, भणिदो णाणी च णेच्छदे असणं ।
अपरिग्णहो दु असणस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ (212)
अपरिग्णहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं ।
अपरिग्णहो दु पाणस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥” (213)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव इसके आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञानदर्शनमय आत्मा को ही अपना परिग्रह मानता है, उसके अतिरिक्त अन्य परमाणुमात्र को भी अपना नहीं मानता—

“को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्णहं तु णियदं वियाणंतो ॥” (207)

सम्यग्दृष्टि जीव मानता है कि यदि जड़ परद्रव्य मेरा हो तो मैं भी जड़ — अजीव हो जाऊँ, अतः जड़ परिग्रह कथमपि मेरा नहीं हो सकता—

“मज्झं परिग्णहो जदि, तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा, तम्हा ण परिग्णहो मज्झ ॥” (208)

सम्यग्दृष्टि जीव तो अपने रागादि विकारी भावों को भी अपना नहीं मानता, क्योंकि वे वास्तव में आत्मा के नहीं हैं, वे तो पुद्गल कर्म के विपाक से हुये हैं, अतः वास्तव में उनका स्वामी पुद्गलकर्म ही है, आत्मा नहीं—

“उदयविवागो विविहो, कम्मणं वणिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमेक्को ॥ (198)
पोण्णलकम्मं रागो, तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो दु अहमेक्को ॥” (199)

सारांश यह है कि मिथ्यात्व ही परिग्रह है, अतः सभी मिथ्यादृष्टि जीव चाहे वे कोई भी हों, परिग्रही ही हैं तथा सभी सम्यग्दृष्टि जीव चाहे वे कोई भी हों, अपरिग्रही ही हैं। कोई भी मिथ्यादृष्टि परिग्रह-रहित नहीं होता और कोई भी सम्यग्दृष्टि परिग्रही नहीं होता— यही समयसार के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द का मत है। इसे सावधानीपूर्वक समझना चाहिए, छल ग्रहण नहीं करना चाहिए। ❖❖

जैन न्याय का प्राथमिक परिचय

U;k; dk vFk— ‘न्याय’ शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति है ‘नीयते ज्ञायते वस्तु तत्त्व येन स न्यायः’ अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप को भलीभांति जाना जाए वह न्याय है।

U;k; d i;k;okph— अन्वीक्षा, युक्ति, परीक्षा, समीक्षा आदि अनेक शब्द न्याय के पर्यायवाची हैं।

U;k; dk egÙo— वस्तु स्वरूप को अन्धश्रद्धा या श्रद्धामात्र से समीचीनतया नहीं जाना जा सकता है, अपितु न्याय, युक्ति या परीक्षा द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अर्थ में न्याय भी एक विज्ञान है अथवा वैज्ञानिक दृष्टि (पद्धति) है जो सर्वथा आग्रहरहित होकर सीधे वस्तु के स्वरूप का समीचीन ज्ञान कराती है।

t'u n'ku e U;k;— जैन दर्शन के अनुसार यह न्याय प्रमाण-नयात्मक होता है, क्योंकि प्रमाण-नय से ही वस्तु स्वरूप की सत्य परीक्षा की जा सकती है और जाना जा सकता है, अन्य किसी विधि से नहीं।

यही कारण है कि जैन न्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों में प्रमाण और नय का ही विस्तृत एवं विशद विवेचन उपलब्ध होता है। प्रमाण-नय स्वरूप में निष्णात व्यक्ति निःसन्देह एक कुशल परीक्षक या नैयायिक बन जाता है।

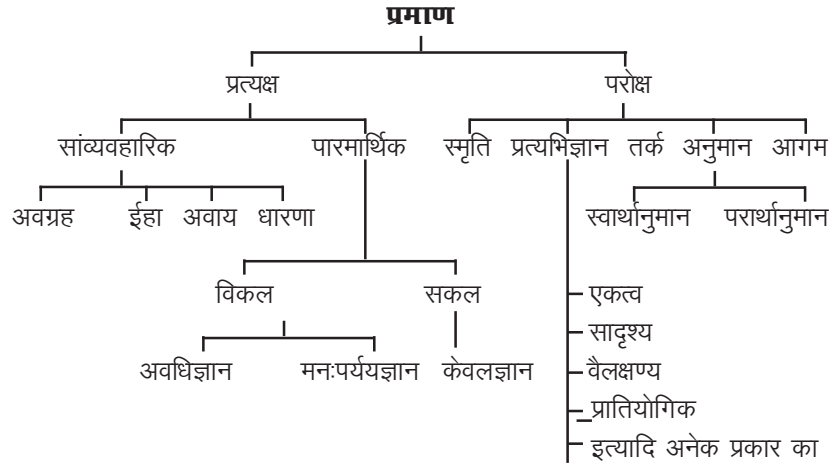
t'u U;k; d i;kfkd xUFk— जैन न्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों की संख्या शताधिक है, पर प्राथमिक जिज्ञासुओं को निम्नलिखित चार ग्रन्थों का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए—

1. परीक्षामुखसूत्रम् (आ. माणिक्यनन्दि)
2. न्यायदीपिका (अभिनव धर्मभूषणयति)
3. प्रमाणमीमांसा (आ. हेमचन्द्रसूरि)
4. नयचक्र (माइल्लधवल)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन न्याय के दो अवयव हैं— 1. प्रमाण और 2. नय।

iek.k dk y{k.k— जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि उसी के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जा सकता है अथवा उसी के द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार सम्भव है। ईश्वर, वेद, इन्द्रियाँ, सन्निकर्ष आदि को जैनदर्शन में प्रमाण नहीं माना गया है।

īek.k dī Hkn-iHkn— प्रमाण के अनेक भेद-प्रभेद हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित चार्ट द्वारा देखा जा सकता है—



īR;{k īek.k vkj mīdī Hkn— विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। विशदता का अर्थ है— निर्मलता, स्पष्टता। जो ज्ञान अन्य ज्ञान की सहायता के बिना ही वस्तु को विशेष स्पष्टता से जानता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान यद्यपि परमार्थ से अविशद होने के कारण परोक्ष ही है, परन्तु लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है अतः यहाँ उसे सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय-निरपेक्ष है, अतीन्द्रिय है। वह दो प्रकार का है— एक कतिपय विषयक और दूसरा सर्वपदार्थविषयक। पहला विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसके दो भेद हैं— अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थ को जाननेवाला अवधिज्ञान है और दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाननेवाला मनःपर्ययज्ञान है।

सर्वद्रव्यपर्याय विषयक पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान कहलाता है जो अरिहन्त के ही माना गया है। जैन न्याय ग्रन्थों में इस प्रसंग में सर्वज्ञ की सिद्धि विस्तारपूर्वक अनेक तर्कों द्वारा की गई है। आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा आदि अनेक ग्रन्थ तो स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर ही रचित हैं। यहाँ विस्तारभय से उसकी चर्चा नहीं करते हैं। संक्षेप में इतना ज्ञातव्य है कि अरिहन्त के वचन युक्ति-शास्त्र से अविरुद्ध है, प्रमाणबाधित नहीं है, प्रमाणसिद्ध है, अतः ज्ञात होता है कि वे निर्दोष हैं— राग-द्वेष एवं अज्ञान से रहित हैं और इसी से सिद्ध होता है कि वे सर्वज्ञ हैं।

परोक्ष प्रमाण और उसके भेद-प्रभेद— जो अविशद या अनिर्मल सम्यग्ज्ञान है वह

परोक्ष प्रमाण है। इसके 5 भेद हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इन पाँचों का यही क्रम निश्चित समझना चाहिए, क्योंकि उत्तरवर्ती ज्ञान, पूर्ववर्ती ज्ञानों की अपेक्षा रखते हैं। यथा—स्मृति को पूर्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं स्मृति की अपेक्षा होती है, तर्क को प्रत्यक्ष, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा होती है और आगम को शब्द-संकेतादि की अपेक्षा होती है।

जो ज्ञान पूर्वानुभूत वस्तु को 'वह' इस रूप से विषय बनाता है उसे **Lefr** कहते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के संकलन रूप ज्ञान को **ir; fllKku** कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का है— एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान, प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान आदि। प्रत्यक्ष दृष्ट और स्मृत वस्तुओं में एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य और प्रतियोगित्व को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञानों को क्रमशः एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य और प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही देवदत्त है अथवा यह उसी के समान है, आदि।

rd— व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलाने वाले सुनिश्चित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे— धुँए की अग्नि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि धुँआ अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं ही होता है।

व्याप्ति का दूसरा नाम अविनाभाव भी है। अविनाभाव के दो भेद हैं— सहभावनियम और क्रमभावनियम। सहचारी और व्याप्य—व्यापक रूप पदार्थों में सहभावनियम पाया जाता है। जैसे—रूप और रस में अथवा नीम और वृक्ष में सहभावनियम है। पूर्वोत्तरचारी और कार्य-कारण रूप पदार्थों में क्रमभावनियम होता है। जैसे—रविवार और सोमवार में क्रमभावनियम नामक अविनाभाव है।

vueku— साधन (या हेतु) से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। साधन या हेतु के लक्षण पर भारतीय न्यायशास्त्र में खूब ऊहापोह हुआ है। कोई त्रैरूप्य को और कोई पांचरूप्य को हेतु का लक्षण स्वीकार करते हैं, पर जैन नैयायिकों ने एक अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को ही हेतु का समीचीन लक्षण सिद्ध किया है।

अनुमान दो प्रकार का है— 1. स्वार्थानुमान और 2. परार्थानुमान जो अनुमान परोपदेश से होता है वह परार्थानुमान है और जो परोपदेश के बिना होता है वह स्वार्थानुमान है।

जैन नैयायिकों ने अनुमान के दो ही अंग स्वीकार किये हैं— 1. प्रतिज्ञा, और 2. हेतु। इसके अतिरिक्त उदाहरण, उपनय आदि को वे अनुमान का अंग नहीं स्वीकार करते हैं। हाँ, कदाचित् वीतराग-कथा में शिष्यानुग्रह के लिए उदाहरणादि का कोई प्रयोग करे तो कोई आपत्ति नहीं है।

vkxe— आप्त के वचनादि से होनेवाला अर्थज्ञान आगम है। आप्त किसे कहते

हैं— इस विषय में जैन नैयायिकों ने अत्यधिक विस्तारपूर्वक विमर्श किया है, जिसका सारांश निम्नलिखित श्लोक में प्रसिद्ध है—

“मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥”

अर्थात् जो वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वसत्त्व हितोपदेशी है वही आप्त है। अथवा सामान्य अपेक्षा से यह भी कहा गया है कि जिस विषय में जो अवंचक होता है, उस विषय में वही आप्त है। प्रामाणिक वक्ता को भी आप्त कहते हैं। सुप्त, उन्मत्त आदि पुरुष के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान अप्रामाणिक होने से आगम नहीं कहलाता, अतः आगम के लक्षण में आप्त का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार आगम प्रमाण भी यद्यपि ज्ञानरूप ही है, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके आगम को शब्दरूप भी कह दिया जाता है। यथा—आप्त के वचन आगम है।

जैन नैयायिकों ने प्रमाण के लक्षण और भेद के अतिरिक्त उसके विषय और फल पर भी बहुत गहराई से विचार किया है। वह संक्षेप में निम्नानुसार है—

iek.k dk fo'k;— प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक सम्पूर्ण वस्तु है, क्योंकि वही अर्थक्रिया में समर्थ है। केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप वस्तु की सत्ता ही मूलतः असिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है— इसे जैनाचार्यों ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा भी बहुत अच्छी तरह समझाया है। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में आचार्य उमास्वामी के इस विषय के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होते हैं—

1. सत् द्रव्यलक्षणम् । 2. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

जैनाचार्यों के अनुसार पदार्थ परिणमनशील नित्य है। उसमें प्रतिसमय नवीन अवस्था का आगमन होता है— यह उत्पाद है, पुरानी अवस्था नष्ट होती है— यह व्यय है और वस्तु का स्वभाव वही स्थिर रहता है— यह ध्रौव्य है। इस उत्पादव्ययध्रौव्य सिद्धान्त को स्वर्ण, घट, जीव आदि अनेक दृष्टान्तों से भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे— अंगूठी पर्याय का उत्पाद, जंजीर पर्याय का व्यय और फिर भी स्वर्णरूप से उसी की स्थिति देखी जाती है।

iek.k dk Qy— प्रमाण का फल दो प्रकार से समझना चाहिए— 1. साक्षात् फल 2. परम्परा फल। अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है और त्याग, ग्रहण या उपेक्षा प्रमाण का परम्पराफल है। इसके अतिरिक्त कोई भी फल प्रमाण का जैन न्यायशास्त्र में नहीं माना गया है। इस विषय में निम्नलिखित दो शास्त्रकथन विशेष रूप से ध्यातव्य हैं—

‘अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्!’ —(परीक्षामुख 5/1)

“ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृष्यते ॥”

—(आत्मानुशासन 175)

iek.kkHkk I— इस प्रकार प्रमाण का विवेचन पूर्ण होता है, परन्तु जैन नैयायिकों के अनुसार प्रमाण के साथ-साथ प्रमाणाभास का भी ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि प्रमाण के द्वारा पदार्थ की सम्यक् सिद्धि होती है और प्रमाणाभास के द्वारा पदार्थ की विपरीत सिद्धि होती है, जैसा कि आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र में सर्वप्रथम ही जोर देकर कहा है—

“प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः॥”

जो प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण जैसा प्रतीत होता है अथवा प्रमाण माना जाता है उसे प्रमाणाभास कहते हैं, सन्निकर्ष, इन्द्रियाँ, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य आदि सभी प्रमाणाभास हैं।

प्रमाण की भांति प्रमाणाभास के भी दो भेद समझने चाहिए— प्रत्यक्षाभास और परोक्षाभास। तथा उसके अनेक उपभेद भी प्रमाणवत् ही समझ लेने चाहिए। तथा उन सबके लक्षण भी प्रमाणाभास के लक्षण की भांति सुगमतया जाने जा सकते हैं। यथा— प्रमाणलक्षणरहितः प्रमाणवदवभासमानः प्रमाणाभासः, अनुमानलक्षणरहितः अनुमानवदवभासमानः अनुमानाभासः, हेतुलक्षणरहितः हेतुवदवभासमानः हेत्वाभासः इत्यादि।

प्रमाण के दो ही प्रकार हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष, तथापि उसे न मानकर प्रमाण की अन्य एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि संख्या मानना प्रमाणसंख्याभास है।

प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है, किन्तु उसे न मानकर मात्र सामान्यरूप, मात्र विशेषरूप अथवा सामान्य और विशेष दोनों को स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से प्रमाण का विषय मानना प्रमाण-विषयाभास है।

प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति है और यदि परम्परा से देखा जाए तो हान, उपादान और उपेक्षा को भी प्रमाण का फल कहा जा सकता है, किन्तु उसे न मानकर अन्य किसी को प्रमाण का फल मानना प्रमाणफलाभास है।

u;-foopu— प्रमाण और प्रमाणाभास के बाद नय का भी संक्षेप में विवेचन करते हैं। विशेष जिज्ञासा हेतु माइल्लधवल द्वारा रचित ‘द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र’ अवश्य पढ़ना चाहिए जो भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से प्रकाशित है।

प्रमाण के द्वारा परिगृहीत वस्तु के एकदेश (अंश, भाग, गुण, धर्म, पक्ष, आयाम) को जानना या कहना नय है। परमार्थ से नय ज्ञानात्मक ही हैं, वचनात्मक नहीं, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके नय को वचनात्मक भी कहा गया है। ध्यान

रहे नय वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण करता है, किन्तु उसके अपर पक्ष का अभाव कभी नहीं करता, मात्र उसे गौण करता है।

u; vkj u; kHk l— नय और नयाभास में यही विशेष अन्तर है कि नय सम्यक् एकान्त हैं और नयाभास मिथ्या एकान्त। नय अपर पक्ष को मात्र गौण करता है, उसका अभाव नहीं, जबकि नयाभास अपर पक्ष का अभाव ही कर देता है।

वस्तु के अनन्त धर्मों में से कब किसे मुख्य किया जाए और कब किसे गौण किया जाए— यह ज्ञानी वक्ता पर अथवा उसके अभिप्राय पर निर्भर होता है। इसीलिए कहा गया है कि ‘ज्ञातुरभिप्रायो नय’ अथवा ‘वक्तुरभिप्रायो नयः’।

u; d! Hkn— वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः वस्तुतः नय अनन्त हैं। ज्ञानी वक्ता और उनके वचन-विकल्प असंख्य हैं, अतः इस दृष्टि से नय असंख्य भी कहे गये हैं। तथा समझने-समझाने की सुविधा से नय के एक, दो, तीन, चार, सात, सैंतालीस आदि भेद भी शास्त्रों में गिनाये गये हैं। परन्तु संक्षेप में नय के इन दो भेदों को समझना अत्यन्त आवश्यक है— 1. निश्चय नय और व्यवहार नय, 2. द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

fu'p; u; vkj 0; ogkj u;— जो वस्तु को अभेद व अनुपचार से ग्रहण करता है वह निश्चय नय है और जो भेद व उपचार से ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। जैसे— जीव को एक अखण्ड अजर-अमर, अमूर्तिक कहना निश्चय नय है और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का भेद करके बताना या जन्ममरण धर्मा और शरीरादि के संयोग से मूर्तिक आदि कहना व्यवहार नय है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक उदाहरणों द्वारा इसे भलीभांति समझा जा सकता है। यथा घट को मिट्टी का कहना निश्चय नय है और घी का कहना व्यवहार नय है इत्यादि। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहना निश्चय नय है और संयोगादि के कारण उसे अन्यथा कहना व्यवहार नय है।

n0; kFFkd u; vkj i; k; kFFkd u;— पहले कहा जा चुका है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु सदैव सामान्यविशेषात्मक है। सामान्यविशेषात्मक को हम द्रव्यपर्यायात्मक भी कह सकते हैं, क्योंकि वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्य और विशेष अंश को पर्याय भी कहते हैं। जो नय वस्तु के सामान्य अंश या द्रव्य अंश को ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो वस्तु के विशेष अंश या पर्याय अंश को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। जैसे वस्तु को नित्य और अभेद कहना द्रव्यार्थिक नय है और अनित्य और भेदरूप बताना पर्यायार्थिक नय है।

इस प्रकार प्रमाण, प्रमाणाभास, नय और नयाभास— इन चारों को भलीभांति समझना ही जैन न्याय का प्राथमिक परिचय है। जो यहाँ अति संक्षेप में लिखा है। कुछ और अधिक विस्तार से सरलतापूर्वक जानना हो तो मेरी कृति ‘न्याय-मन्दिर’ (प्रकाशक—जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, राजस्थान) पढ़नी चाहिए।❖❖

जैनदर्शन में 'संशय' का स्वरूप

संशय दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। भारतीय एवं पाश्चात्य— सभी दर्शनों में 'संशय' के सम्बन्ध में सूक्ष्म चिन्तन हुआ है। यहाँ 'संशय' के सम्बन्ध में जैनदर्शन की अवधारणा को प्रस्तुत करने का संक्षिप्त प्रयास किया जाता है।

संशय के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम तो उन तत्त्वोपप्लववादियों या उच्छेदवादियों का निराकरण किया है जो संशय की सत्ता ही नहीं मानते, उसका सर्वथा उच्छेद करते हैं। इस प्रकरण का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन आचार्य प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक सुप्रसिद्ध न्याय-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिसका सारांश संक्षेप में इसप्रकार है—

“पूर्वपक्ष— संशयादिज्ञान कोई है ही नहीं, फिर आप जैन 'व्यवसायात्मक' विशेषण द्वारा किसका खण्डन करेंगे ? आप यह बताइये कि संशय ज्ञान में क्या झलकता है— धर्म या धर्मी ? यदि धर्मी झलकता है तो वह सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो उस सत्य धर्मी को ग्रहण करने वाले ज्ञान में संशयपना कैसे हुआ? उसने तो सत्य वस्तु को जाना है, जैसे कि हाथ में रखी हुई वस्तु का ज्ञान सत्य होता है।

यदि उस धर्मी को असत्य मानो तो असत् जानने वाले केशोण्डुक ज्ञान की तरह संशय तो भ्रांतिरूप हुआ?

यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि संशयज्ञान में धर्म झलकता है, तब प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या पुरुषत्वरूप है अथवा स्थाणुत्वरूप है अथवा उभयरूप है? यदि स्थाणुत्वरूप है तो पुनः प्रश्न उठेगा कि सत् है या असत्? दोनों में पूर्वोक्त दोष आवेंगे। पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्म में भी वही दोष आते हैं, अर्थात् संशयज्ञान में स्थाणुत्व, पुरुषत्व अथवा उभयरूपत्व झलके, उनमें हम वही बात पूछेंगे कि वह स्थाणुत्वादि सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत् वस्तु बतलाने वाला ज्ञान झूठ कैसे? और यदि वह स्थाणुत्व धर्म असत् है तो वह ज्ञान भ्रांतिरूप ही रहा? यदि कहा जाय कि एक धर्म (स्थाणुत्व) सत् है और एक (पुरुषत्व) असत् है, तब वह एक ही ज्ञान भ्रांत तथा अभ्रांत दो रूप हुआ? यदि कहा जाय कि संशय में संदिग्ध पदार्थ ही झलकता है तो उस पक्ष में भी वह है या नहीं इत्यादि प्रश्न

और वही दोष आते हैं इसलिए संशय नाम का कोई ज्ञान नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन)— तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि संशय तो प्रत्येक प्राणी को चलित प्रतिभास रूप से अपने आप में ही स्पष्ट समझ में आता है। संशय का विषय चाहे धर्म हो चाहे धर्मी, सत् हो चाहे असत्, इतने विकल्पों से संशय का बालाग्र भी खण्डित नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार आप प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का भी अभाव करने लगोगे तो सुख-दुःखादि का भी अभाव करना चाहिए? आश्चर्य की बात है कि आप स्वयं ही इस संशय का विषय धर्म है या धर्मी, सत् है या असत् इसप्रकार के संशयरूपी झूले में झूल रहे हो और फिर भी उसी का निराकरण करते हो, सो अस्वस्थ हो क्या?

किञ्च— आप उत्पादक कारण का अभाव होने से, संशय को नहीं मानते हो या उसमें असाधारण रूप का अभाव होने से अथवा विषय का अभाव होने से संशय को नहीं मानते हो? प्रथम पक्ष अयुक्त है, देखो! संशय का उत्पादक कारण मौजूद है। किस कारण से संशय पैदा होता है सो बताते हैं— प्राप्त किया है स्थाणुत्व और पुरुषत्व के संस्कार को जिसने ऐसा व्यक्ति जब असमान विशेष धर्म जो मस्तक, हस्तादिक हैं तथा वक्र-कोटरत्वादि हैं उनका प्रत्यक्ष तो नहीं कर रहा और समान धर्म जो ऊर्ध्वता आदि हैं उनको देख रहा है तब उस व्यक्ति को अंतरंग में मिथ्यात्व के उदय होने पर संशय ज्ञान पैदा होता है। संशय का असाधारण स्वरूप का अभाव भी नहीं है, देखो! चलित प्रतिभास होना यही संशय का असाधारण स्वरूप है। विषय का अभाव भी दूर से ही समाप्त होता है स्थाणुत्व-विशिष्ट से अथवा पुरुष-विशिष्ट से जिसका अवधारण नहीं हुआ है ऐसा ऊर्ध्वता-सामान्य ही संशय का विषय माना गया है, और वह मौजूद ही है।”

इस सम्बन्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र के अपने मूल शब्द भी द्रष्टव्य हैं जहाँ उन्होंने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है कि संशय सर्वजनसुलभ एवं स्वात्मसंवेद्य है, उसका बाल की नोक बराबर भी खण्डन किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता—

“संशयः सर्वप्राणिनां चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसंवेद्यः। सः धर्मविषयो वस्तु धर्मविषयो वा तात्त्विकातात्त्विककार्यविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते? प्रत्यक्षसिद्ध-स्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्वे सुखदुःखादेरप्यपह्वः स्यात्॥”¹

इस प्रकार संशय की सत्ता सिद्ध करने के बाद संशय के स्वरूप का विचार किया गया है।

जैनाचार्यों के अनुसार संशय दो प्रकार का होता है— 1. ज्ञानात्मक और

1. प्रमेयकमलमार्तण्ड, सूत्र 1/3

2. श्रद्धानात्मक। ज्ञानात्मक संशय को ज्ञान का दोष या मिथ्याज्ञान भी कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को श्रद्धा का दोष या मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

दर्शन जगत् में मुख्यतया ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा होती है। ऊपर कही गई ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ की चर्चा भी मुख्यतः ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा है।

जैन-न्याय-ग्रन्थों में सर्वप्रथम प्रमाण-विचार करते हुए ‘सम्यग्ज्ञान’ को ही प्रमाण का समीचीन लक्षण माना गया है और कहा गया है कि ‘सम्यग्ज्ञान’ में ‘सम्यक्’ पद का प्रयोग संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञानों की निवृत्ति के लिए किया गया है। यथा— “अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसाय-निरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति।”²

इसके बाद वहाँ संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय— इन तीनों मिथ्याज्ञानों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— “विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावाद्नेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैक-कोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्। अत्रापि सादृश्यादि-निमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः। किमित्यालोचनमात्रमन-ध्यवसायः, यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्। इदं हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः। विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेवा एतानि च स्वविषय-प्रमितिजन-कत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते।”³

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को कहीं-कहीं संशय, विभ्रम, मोह शब्दों से भी कहा है। यथा—

‘संशय विभ्रम मोह त्याग आपौ लखि लीजै।’⁴

‘मोह’ को भी कहीं-कहीं ‘विमोह’ शब्द से भी कहा गया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने विमोह या अनध्यवसाय को ‘अव्युत्पत्ति’ शब्द से भी कहा है।⁵ आचार्य माणिक्यनन्दी को भी ‘अनध्यवसाय’ के लिए ‘अव्युत्पत्ति’ शब्द इष्ट रहा है। यथा— ‘संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां.....’⁶

कहने का तात्पर्य है कि मोह, विमोह, अव्युत्पत्ति और अनध्यवसाय— ये सभी पर्यायवाची हैं।

2. न्यायदीपिका, 1/8

3. न्यायदीपिका, 1/9

4. कविवर दौलतराम, छहढाला 4/6

5. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 11, श्लोक 353, 355

6. आचार्य माणिक्यनन्दि, परीक्षामुखसूत्रम् 1/4

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय— इन तीनों को जैन ग्रन्थों में ‘समारोप’— शब्द से भी जाना जाता है, जैसाकि ‘परीक्षामुखसूत्र’ के निम्नलिखित सूत्र में कहा गया है— ‘दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।’⁷

अर्थात् देखा-जाना हुआ अर्थ भी यदि ‘समारोप’ लग जाए तो पुनः अपूर्वार्थ हो जाता है।

यहाँ ‘समारोप’ शब्द का अर्थ संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय है। इसप्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय की चर्चा प्रायः सर्वत्र एक साथ ही उपलब्ध होती है, परन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन मात्र ‘संशय’ का ही स्वरूप स्पष्ट करना है, विपर्यय और अनध्यवसाय की चर्चा पृथक् रूप से फिर कभी करेंगे। अथवा उसे प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि ग्रन्थों से देखना चाहिए।

संशय का एक लक्षण ‘न्यायदीपिका’ ग्रन्थ से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। इसी प्रकार के लक्षण अन्य भी अनेक जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिनमें से कतिपय प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

1. ‘अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकः संशयः।’⁸
2. ‘अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम्। शुक्ति वा रजतं किं वेत्येव संशीतिलक्षणम्।’⁹
3. ‘संशयो नामानवधारितार्थज्ञानम्।’¹⁰
4. ‘एकधर्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं हि संशयः।’¹¹

ध्यातव्य है कि प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि संशय दो कोटियों को स्पर्श करने वाला होता है, परन्तु यहाँ ‘दो’ या ‘उभय’ पद का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि ‘अनेक’ पद का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि संशय में दो ही कोटियों का स्पर्श होना आवश्यक नहीं है, दो का भी हो सकता है और दो से अधिक का भी हो सकता है।

इसी प्रकार कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि इन कोटियों में से एक सत्य होती है और एक असत्य। परन्तु यहाँ ऐसा भी कुछ नहीं कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि संशयज्ञान की ये कोटियाँ सब की सब असत्य भी हो सकती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनमें एक सत्य ही हो। यह बात उदाहरण से भी सहज समझ में आती है। यथा— किसी को संशय होता है कि यह सीप है या चाँदी।

7. वही

8. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिकम् 1/15/9

9. मोक्षपञ्जिका 5

10. सूर्यप्रज्ञप्ति, मलयगिरिवृत्ति, 2, पृष्ठ 5

11. सप्तभंगीतरंगिणी, पृष्ठ 6

यहाँ यह हो सकता है कि वह वस्तु दोनों ही न हो, एल्युमिनियम, पन्नी आदि कुछ और ही चमकीली वस्तु हो। किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि संशयज्ञान की सभी कोटियाँ असत्य होते हुए भी सर्वथा असत्य (असत्) नहीं होती, उन-उन अर्थों की लोक में सत्ता अवश्य होती है, सर्वथा असत् वस्तु का संशय नहीं होता। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने संशय के द्वारा भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है। यथा—

‘सत्यपि संशये तदालम्बनादात्मसिद्धिः। न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति।’¹²

इसप्रकार संशयज्ञान मिथ्या होते हुए भी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करता है— यह बड़ी अद्भुत बात है।

संशय के सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति यह है कि कुछ लोग जिज्ञासा या प्रश्न को भी संशय समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो जिज्ञासा संशय नहीं है, जिज्ञासा और संशय में बहुत अन्तर है। जिज्ञासा में जानने की इच्छा है, प्रश्न का उत्तर बताने का निवेदन है, परन्तु संशय में ऐसी कोई बात नहीं है।

दरअसल ज्ञान के अनेक रूप होते हैं— जिज्ञासा, प्रश्न, संशय आदि। हमें इन सब में विद्यमान सूक्ष्म अन्तर को समझना चाहिए।

इसी प्रकार कुछ लोग अवग्रह ज्ञान को भी जो कि मतिज्ञान का एक (प्रथम) भेद है, संशय समझ लेते हैं, परन्तु संशय और अवग्रह ज्ञान में भी बड़ा अन्तर है, अवग्रह ज्ञान संशय ज्ञान नहीं है। जैसा कि आचार्य अभिनव धर्मभूषण यति ने भी स्पष्ट कहा है—

‘‘तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तर-जातिविशिष्टवस्तुग्राहीज्ञानविशेषोऽवग्रहः-यथाऽयं पुरुष इति। नाऽयं संशयः, विषयान्तरव्युदासेन स्वविषयनिश्चयात्मकत्वात्। तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः।’¹³

अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के मिलन के तुरन्त बाद होने वाला और सत्तावलोकन के बाद अवान्तर सत्ता को विषय करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे— यह पुरुष है। यह अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य विषय नहीं है और अपने विषय का निश्चय है। संशय इससे विपरीत होता है।

1. ‘अनेकार्थानिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः।’¹⁴

2. ‘संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः।’¹⁵

12. मल्लिषेणसूत्रि, स्याद्वादमंजरी, 17

13. न्यायदीपिका 2/11

14. तत्त्वार्थवार्तिकम् 1/15/9

15. वही, 1/15/10

अर्थात् अनेक अर्थों में अनिश्चयरूप संशय होता है, जबकि अवग्रह इससे विपरीत होता है। संशय ही निर्णय-विरोधी होता है, न कि अवग्रह।

इसप्रकार संशय के प्रधान भेद ज्ञानात्मक संशय का स्वरूप हुआ। अब संशय के द्वितीय भेद श्रद्धानात्मक संशय का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जाता है।

कहा जा चुका है कि श्रद्धानात्मक संशय श्रद्धा का दोष है जिसे जैन-ग्रन्थों में मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन भी कहा सकता है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व 5 प्रकार का होता है— 1. एकान्तमिथ्यादर्शन, 2. विपरीतमिथ्यादर्शन, 3. संशयमिथ्यादर्शन, 4. वैनयिकमिथ्यादर्शन, 5. अज्ञानिकमिथ्यादर्शन।

इन पाँचों का स्वरूप इसप्रकार बताया गया है— “तत्र इदमेव इत्यमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। पुरुष एवेदं सर्व इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति। सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्धयतीत्येवमादिः विपर्ययः। सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः। सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्।”¹⁶

अर्थात् यही है या ऐसा ही है— ऐसा धर्म-धर्मों का ऐकान्तिक श्रद्धान एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे— यह सब पुरुष ही है अथवा वस्तु नित्य अनित्य ही है। साधु परिग्रही होते हैं, केवली कवलाहारी होते हैं, स्त्री को तद्भव-मुक्ति प्राप्त होती है— यह विपरीत मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता मोक्षमार्ग है या नहीं— ऐसा मानना संशय मिथ्यात्व है। सभी देवों को और सभी धर्मों को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। हिताहित का परीक्षण न करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

इन पाँच प्रकार के मिथ्यादर्शनों में से संशय नामक मिथ्यादर्शन को ही श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं। ज्ञानात्मक संशय को मिथ्याज्ञान कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

विचारणीय है कि ज्ञानात्मक संशय (मिथ्याज्ञान) और श्रद्धानात्मक संशय में मूलभूत अन्तर क्या है ?

दरअसल बात यह है कि सामान्यतः किसी भी विषय को जानने में जो संशय होता है उसे ज्ञानात्मक संशय कहते हैं किन्तु जब वही संशय किसी मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषय के सम्बन्ध में होता है तो उसे श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं, क्योंकि उसमें मात्र ज्ञानावरण कर्म का उदय निमित्त नहीं होता, मोहनीय कर्म का उदय भी निमित्त होता है।

श्रद्धानात्मक संशय की अवधारणा तो जैनाचार्यों की ही विशिष्ट देन है।



16. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि 8/1

क्रोध से बचने के अनेक उपाय

क्रोध एक अत्यन्त हानिकारक मनोविकार है। उससे हमें येन-केन प्रकारेण अवश्य बचना चाहिए। अन्यथा हमारा धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन तो दूर, लौकिक जीवन भी ठीक से नहीं चल पायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार क्रोध को जीतने का सच्चा उपाय यद्यपि एक आत्मानुभूति ही है, तथापि उन्होंने प्राथमिक दशा में क्रोध से बचने के अनेक उपाय निम्नानुसार भी बताये हैं, जिन्हें हम ज्ञानार्णव (18/51-84), भगवती आराधना (1420-26), सुभाषित-रत्नसन्दोह, परमात्मप्रकाश-टीका, रत्नकरण्डश्रावकाचार-भाषावचनिका आदि अनेक ग्रन्थों के आधार से यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ किसी ने हमको बहुत दुर्वचन कहे, गाली दी, हमको ‘गधा’ ही कह दिया तो हमें इस-इस प्रकार से विचार करके शान्ति धारण करना चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए—

- (i) मेरे हाथ-पैर गधे जैसे नहीं हैं, मनुष्य जैसे हैं, मैं गधा नहीं हूँ, उसके कहने से भी मैं गधा बना नहीं हूँ, उसी की वाणी झूठी हुई है, वही झूठा हुआ है, मेरा तो इससे कुछ भी नहीं बिगड़ा।
- (ii) चलो, कोई बात नहीं, उसे थोड़ी देर के लिए खुशी मिल गई और वह भी मेरे निमित्त से—यह तो अच्छा ही हुआ। लोग तो दूसरों को प्रसन्न करने के लिए पता नहीं क्या-क्या करते हैं, भोजन कराते हैं, वस्त्रादि प्रदान करते हैं, बहुत धन खर्च करते हैं, मेरा तो कुछ भी खर्च नहीं हुआ और उसे मेरे निमित्त से खुशी मिल गई।¹
- (iii) चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए मैं पूर्वजन्मों में अनेक बार गधा हुआ हूँ। इसने मुझे गधा कहा है सो भूत नैगम नय से सत्य ही है। उसमें गलत क्या कहा? जैसे सेवानिवृत्त तहसीलदार या पटवारी या जज को लोग बाद में भी तहसीलदार, पटवारी या जज कह देते हैं, पर कोई

1 “सततसुलभदेन्ये निःसुखे जीवलोके, यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा, जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः॥”

बुरा नहीं मानता। यह तो संसार में चलता ही है।

- (iv) ‘गधा’ शब्द का अर्थ गधा ही नहीं होता, लक्षणाशक्ति से ‘गधा’ शब्द का अर्थ ‘अज्ञानी’ होता है और केवलज्ञान होने से पूर्व तक सभी जीव अज्ञानी होते हैं। मैं तो महा अज्ञानी हूँ। इसने मुझे अज्ञानी रूप में गधा कहा तो इसमें उसकी गलती क्या है?
- (v) गधा कोई बुरा नहीं होता है। वह भी एक जीव है, जो स्वभाव से हमारे ही समान है। ऊपरी पर्याय मात्र को क्या देखना? पर्यायदृष्टि तो संसार का कारण है।
- (vi) गधे में अनेक गुण हैं। वह अविराम भार-वहन करता है, शीतोष्ण से नहीं घबराता, सदा सन्तोष धारण करता है। यथा—

“अविश्रामं वहेत् भारं, शीतोष्णं च न विन्दति ।

ससन्तोषस्तथा नित्यं, त्रीणि शिक्षेत् गर्दभात् ॥”

- (vii) यह मुझे दुर्वचन कह रहा है तो क्या हुआ? यह तो इसका स्वभाव ही है। मैं क्यों क्रोध करूँ? यदि कुत्ता काटे तो क्या बदले में हम भी उसे काटते हैं?
- (viii) मेरे अशुभ कर्म का उदय है, मैंने भी पूर्व में कभी दूसरों को ऐसे दुर्वचन कहे होंगे। ‘जैसे को तैसा’ —यही कर्मसिद्धान्त है।
- (ix) बड़े-बड़े महापुरुषों को भी दुर्जन लोग इससे अधिक बुरे वचन कहते हैं, पर वे शान्त रहते हैं, क्रोध नहीं करते। मुझे ऐसा कहा तो क्या हुआ?
- (x) शब्द तो ब्रह्म है। यह उनका दुरुपयोग कर रहा है। क्या करे, यह नासमझ है। अग्नि, जल पाषाण आदि तो सदुपयोग के लिए हैं, कोई उनका दुरुपयोग करे तो क्या किया जा सकता है?
- (xi) मैंने शास्त्रों में पढ़कर सीखा है कि क्रोध हानिकारक है, कदापि नहीं करना चाहिए— ‘गाली सुनि मन खेद न आनो’; आज मुझे उसे आचरण में उतारने का अवसर मिला है, यह मुझे निःशुल्क प्रयोगशाला प्राप्त हुई है। यह मेरे ज्ञान की परीक्षा की घड़ी है।
- (xii) रोज चार रोटी पचाता हूँ, क्या इसके ये दो अक्षर (गधा) भी नहीं पचा पाऊँगा। कुछ नहीं चलो, कुछ नहीं हुआ।
- (xiii) अरे, इसने मुझे दो अक्षर ही तो कहे हैं, बहुत अधिक तो कुछ नहीं कहा। कहनेवाले तो जाने कितना-कितना गन्दा कह देते हैं और वह भी भरी सभा में।
- (xiv) ‘जाकी जितनी बुद्धि हो, उतनी देय बताय।

वाको बुरो न मानिए, और कहाँ से ल्याय।।’

- (xv) इसने मेरे लिए अपने मुँह से कुछ कहा ही तो है, मेरा कुछ छीना तो नहीं। मेरे शरीर को तो कोई बाधा नहीं पहुँचाई।
- (xvi) शरीर को भी बाधा पहुँचाए तो भी क्षमा करना चाहिए कि मात्र इतनी-सी बाधा पहुँचाई है, प्राण-विनाश तो नहीं किया।
- (xvii) प्राण-विनाश करे तो भी क्षमा करना चाहिए कि मात्र इस शरीर का प्राण-विनाश कर रहा है, मेरे आत्मिक गुणों (धर्म) का विनाश तो नहीं करता।

इस प्रकार शान्त मन से चिन्तन करने से गाली सुनकर भी क्रोध से बचा जा सकता है। इसीप्रकार क्रोध के अन्य निमित्त मिलने पर भी क्रोध से बचा जा सकता है; सहज शान्त और संतुलित रहा जा सकता है।



अपकुर्वति कोपश्चेत्, किं न कोपाय कुप्यसि।

त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने॥

—आचार्य वादीभ सिंह, क्षत्रचूडामणि, 2/42

वफ़क हे भाई! यदि तुम बुरा करने वाले पर ही क्रोध करना चाहते हो तो इस क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते हो? क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन का विनाश करनेवाला यह क्रोध ही तो है। इससे अधिक बुरा करनेवाला अन्य कोई नहीं है।

क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति?

अतृणे पतितो वहनिः स्वयमेवोपं शाम्यति॥

वफ़क जिसके हाथ में क्षमारूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन क्या कर पाएगा? तृणहीन स्थान पर गिरी हुई अग्नि स्वयमेव उपशांत हो जाती है।

सामायिक भावना

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥

यह आचार्य अमितगति द्वारा रचित 'भावनाद्वात्रिशतिका' का प्रथम श्लोक है जिसे 'भावना-बत्तीसी' या 'सामायिक पाठ' के नाम से भी जाना जाता है। इसके अनेक हिन्दी-अनुवाद भी लोकप्रिय हैं। प्रथम श्लोक का हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

“प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो!
करुणास्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो!”

अथवा—

“हे देव! मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को ।
मैत्री करे सब प्राणियों से गुणिजनों से प्रेम को ॥
उन पर दया करती रहे जो दुःखग्राह गृहीत हैं ।
उनसे उदासी-सी रहे जो धर्म से विपरीत हैं ॥”

‘भावना-बत्तीसी’ के उक्त श्लोक में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय समझाया गया है, जो एक तरह से पूरे नीतिशास्त्र का सार भी है। लगभग सारा नीतिशास्त्र इसी का विस्तार है। इसमें हमारे नित्यप्रति काम में आने वाला एक ऐसा व्यावहारिक मार्गदर्शन भी है जिसे अपनाकर हम अपना एवं अपने समाज का जीवन अच्छा बना सकते हैं।

दुनिया में अनेक प्रकार के लोग हैं। हम उन सभी के प्रति एक-सा व्यवहार नहीं कर सकते। तो फिर किसके प्रति कैसा व्यवहार करें, यहाँ इसी की उत्तम भावना भाई जा रही है। यथा—

- | | |
|---------------------------------|-----------------------------|
| 1. सामान्यतः सभी जीवों के प्रति | — मैत्री भावना होनी चाहिए। |
| 2. गुणी जनों के प्रति | — प्रमोद भावना होनी चाहिए। |
| 3. दुःखी जनों के प्रति | — करुणा भावना होनी चाहिए। |
| 4. दुर्जनों के प्रति | — मध्यस्थ भावना होनी चाहिए। |

इन चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन ‘भावना-बत्तीसी’ के अतिरिक्त अन्य भी अनेकानेक ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य उमास्वामी मुनिराज ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ (7/11) में भी कहा है—

‘‘मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकविलश्यमानाविनेयेषु ।’’

अतः इन पर हमें बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए और फिर इसी के अनुरूप व्यवहार भी करना चाहिए। इससे सबका मंगल होता है।

1- e=h Hkkouk& अर्थात् हे देव! मैं तीन लोक के सभी जीवों को अपना मित्र समझूँ, चार गति चौरासी लाख योनियों के समस्त जीवों को भी अपना मित्र समझूँ, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तक को भी अपना मित्र समझूँ। इसीप्रकार अरिहंत, सिद्ध आदि को भी अपना मित्र समझूँ।

मित्र समझने का अर्थ है कि सबको समान समझूँ, उनमें छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं करूँ, क्योंकि मित्रता समानता के भाव में ही होती है, छोटे-बड़े के भाव में नहीं— ‘समानशीलेषु सख्यम् ।’

सभी जीव वस्तुतः स्वभाव से एक समान ही हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। हम अज्ञानवश व्यर्थ ही लिंग, जाति, वर्ण, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों के आधार पर उन्हें छोटा या बड़ा मानकर बड़ी भारी गलती करते हैं, क्योंकि जब हम किसी को छोटा मानते हैं तो हमारे अन्दर अभिमानादि उत्पन्न होते हैं और हम उन्हें शोषित करते हैं, जिससे हमारा मानसिक-सामाजिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार का पतन होता है। तथा जब हम किसी को बड़ा मानते हैं तो हमारे अंदर दीनता, लोभादि के भाव उत्पन्न होते हैं और उनसे भय, याचना आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। अतः सभी जीवों को समान मानना आवश्यक है। समान मानने से वीतरागता उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मित्रता की भावना का अभिप्राय हुआ कि छोटे-बड़े के रूप में देखने की पर्यायदृष्टि छोड़ो और सभी को द्रव्यदृष्टि से समान देखो। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ‘प्रवचनसार’ (गाथा 93) में पर्यायदृष्टि जीव को मिथ्यादृष्टि (मूढ़) कहा है।

देखो आश्चर्य की बात कि आचार्यदेव तो हमें सब जीवों को समान/मित्र मानने की शिक्षा दे रहे हैं और हम हैं कि भाई-भाई में, मनुष्य-मनुष्य में, जैन-जैन तक में ही छोटे-बड़े की भावना कर रहे हैं, अपने ही भाई के प्रति शत्रु-जैसा व्यवहार कर रहे हैं। यह बड़े खेद की बात है।

अतः हमें चाहिए कि हम किसी को भी छोटा या बड़ा न समझें, सब जीवों को समान ही समझें, कभी भी किसी की उन्नति में ईर्ष्या न रखें, किसी के भी दुःख

की कामना न करें और सभी के परम कल्याण की कामना करें। यथा—

1. “सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥”
2. “भावना दिन-रात मेरी सब सुखी संसार हो।”
3. “सुखी रहें सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे।”

पुनश्च, यहाँ जिसप्रकार छोटे-बड़े की भेद-भावना करने का निषेध किया गया है, उसीप्रकार अपने-पराये की भेद-भावना का निषेध भी घटित कर लेना चाहिए। क्योंकि तीन लोक में कोई भी जीव वास्तव में अपना या पराया नहीं है। सब अपने हैं, सब पराये हैं। विश्वप्रेम और वीतरागता में कोई अन्तर नहीं है। कहा भी है—

“त्यक्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः।
नो चेद्-कर्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः॥”

सबको मित्र मान लेने पर क्रोध, मानादि भाव खत्म हो जाते हैं। मित्र से कैसा क्रोध, कैसा मान, कैसी ईर्ष्या आदि। मित्र मान लेने पर ऐसा नहीं हो सकता कि पड़ोसी की उन्नति हो और हमारा खून जले इत्यादि। इसप्रकार यह मैत्री भावना हमें घोर पापों से बचाती है और वीतरागता के मार्ग में लगाती है।

2- iekn Hkkouk& जो जीव गुणवान हैं— समीचीन श्रुत, ज्ञान, चारित्र, तप, शील, विनय, करुणा, सत्य, संयम आदि गुणों से सम्पन्न हैं उनके प्रति हमारे हृदय में प्रमोद भावना होनी चाहिए। प्रमोद भावना होने से स्वयं के गुणी होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग किसी के गुणों की सराहना नहीं कर पाते, क्योंकि इसके लिए बड़ा हृदय होना आवश्यक है जो उनके पास नहीं होता। सर्वप्रथम तो इसके लिए उन्हें अपने में विद्यमान दोषों को भी छोड़ना नहीं तो कम से कम दोष के रूप में स्वीकारना तो अवश्य ही पड़ता है। यही लोग नहीं कर पाते। अपने दोषों को स्वीकारना भी तो शूरवीरता का काम है। दोष छिपाना सभी जानते हैं, परन्तु दोषों को स्वीकार करना और फिर उन्हें मिटाना कोई महावीर ही जानता है।

कितने ही लोग तो अपने दोषों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की दिल्ली अभी बहुत दूर समझना चाहिए। वे तो दोषों में ही स्थित रहने के कारण ‘दुष्ट’ कहे गये हैं। सज्जनों को उनकी संगति शीघ्र ही छोड़ देनी चाहिए।

इसीप्रकार कितने ही लोग दूसरों के गुण को ‘गुण’ के रूप में देखना तो दूर,

अपितु दोष के रूप में ही देखते—कहते हैं। सोचिए वे कब सुधरेंगे? यथा— कितने ही लोग दूसरे के गुणों से ईर्ष्या भाव रखते हैं अथवा उनकी हँसी उड़ाते हैं, उपेक्षा करते हैं, निंदा करते हैं। विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में वे स्वयं उन गुणों को कब कैसे धारण करेंगे? पुराण उठाकर देखें तो पता चलता है कि गुणीजनों की निन्दा करके आजतक इस जीव ने घोर पाप किया है और अपने आपको चिरकाल के लिए गुणप्राप्ति के मार्ग से कोसों दूर कर लिया है।

कितने ही लोग तो सभा में, शास्त्रसभा में गुणीजनों (साधु तक) की निन्दा करते हैं। वह घोर पाप का कारण है। कितने ही लोग तो गुणी जनों को नाना प्रकार से तिरस्कृत और पीड़ित करते हैं, उन पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, उनको शारीरिक—मानसिक कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि उनकी मृत्यु तक का उपाय रचते हैं। यह भी महापाप का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं गुणी बनने के लिए दूसरे गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव आना आवश्यक है। जबतक अपने दोषों के प्रति खेद और दूसरे के गुणों के प्रति प्रमोद की भावना हृदय में जागृत नहीं होती तब तक व्यक्ति दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण नहीं कर सकेगा।

3- दुःखी जो जीव दुःखी हैं; शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि किसी भी प्रकार के दुःखों से परेशान हैं, उनके प्रति हमारे हृदय में करुणा की भावना होनी चाहिए। देखा जाता है कि कितने ही लोग दुःखी जनों की हँसी उड़ाते हैं अथवा उन्हें और अधिक दुःखी करते हैं। परन्तु ऐसा करना अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है, घोर पापबन्ध का कारण रचना है। कभी भूलकर भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। विकलांग आदि दुःखी जीवों की हँसी उड़ाने से हमें स्वयं भी आगामी जन्म में वैसा ही दुःख उठाना पड़ता है। अतः जैनधर्म समस्त दुःखी, दलितों, शोषितों के प्रति करुणा रखना सिखाता है।

इसीप्रकार कुछ लोग दुःखी जनों को देखकर ऐसा विचार करते हैं कि होंगे दुःखी, मैं क्या करूँ, मैंने कोई ठेका ले रखा है, इसमें मेरी क्या लगती है, सब अपने कर्मों से दुःखी है, भोगें अपने कर्मों की सजा; परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है, इससे परिणाम कठोर एवं लोकनिन्द्य बनते हैं।

कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो स्वयं तो दुखियों की सहायता करते ही नहीं, यदि कोई दूसरा करे तो उसे भी रोकते हैं, रोकना चाहते हैं। यह अन्तराय कर्म के आस्रव—बन्ध का कारण है।

4- संसार संसार में कुछ लोग अत्यन्त दुष्ट स्वभाव के होते हैं। हमें उनके प्रति रागपूर्ण या द्वेषपूर्ण कैसा भी व्यवहार—सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, उनसे कटु या मधुर कैसा भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही

स्थितियाँ घातक हैं। कटु सम्भाषण किया तो वे हमारा सिर फोड़ देंगे और यदि मधुर सम्भाषण किया तो हमारे सिर पर पैर रखने लगेंगे, अतः दुर्जनों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। उनके प्रति न अच्छा व्यवहार करो, न ही बुरा।

देखा गया है कि कुछ लोग तो दुर्जनों (दुष्टों/कुपात्रों) को सुधारने के चक्कर में अपना जीवन बरबाद कर लेते हैं और कुछ उनका बुरा करने, उनको नष्ट/समाप्त करने के चक्कर में अपना घर अहित कर लेते हैं, जबकि ये दोनों ही कार्य अनुचित एवं असंभव हैं। न तो दुर्जनों को सुधारा ही जा सकता है और न ही उन्हें दुनिया से नष्ट/समाप्त किया जा सकता है। अतः यहाँ उनके प्रति मध्यस्थ भाव रखने की भावना भाई जा रही है। जो लोग दुर्जनों को सुधारने के लिए उन्हें हित-शिक्षा देने लग जाते हैं, वे नहीं जानते कि यह उन्हें बहुत महँगा सिद्ध होता है, क्योंकि उस उपदेश से वे सुधरते नहीं, उल्टा उन्हें क्रोध ही उत्पन्न होता है। यथा—

“उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये,
पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ॥”

अतः सदा यही ध्यान रखना चाहिए कि—

“सीख दीजिए ताहि को, जाको सीख सुहाय,
सीख न दीजे वानरा, घर बयाँ को जाय ॥”

दुर्जन को शिक्षा देने की गलती करके अनेक सज्जन लोग भी बहुत कष्ट उठा चुके हैं, अतः यहाँ दुर्जनों से दूर रहने की अर्थात् उनके प्रति मध्यस्थ भावना रखने की कामना की गई है।

यहाँ इतना विशेष है कि ज्ञानीजन दुर्जन के प्रति मध्यस्थभाव रखते हुए भी, उसे कोई हित-शिक्षा न देते हुए भी, उसके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं रखते, वह उनका बुरा करे तब भी, अपितु उसका भी शीघ्र कल्याण हो —ऐसी अंतरंग में शुभ भावना रखते हैं।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ दुर्जन को भी ‘दुर्जन’ संज्ञा हमने दी है, आचार्यदेव ने तो मूल श्लोक में मात्र ‘विपरीतवृत्ति’ जैसा उचित शब्द ही प्रयोग किया है— ‘माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ’।

i'u& उक्त चार प्रकार के जीवों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए— यह तो समझ में आया, परन्तु यह नहीं बताया कि जो हमारे शत्रु हैं उनके प्रति हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए।

mUkj& संसार में कोई भी जीव वास्तव में शत्रु नहीं होता। ज्ञानी जन उसे जब द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो उसके प्रति भी प्रेम/मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और जब पर्यायदृष्टि से देखते हैं तो ‘विपरीतवृत्ति’ होने के कारण मध्यस्थता का

भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त उसके गुणों या दुःखों को देखकर उनके मन में प्रमोद या करुणा का भाव भी उत्पन्न होता है। ज्ञानी जन किसी को भी अपना शाश्वत शत्रु नहीं मानते।

ii'u& परिवार के लोगों के प्रति कैसी भावना होनी चाहिए?

mùkj& वे भी उक्त चार प्रकारों में ही समाहित हो जाते हैं, उनसे अलग नहीं होते; अतः जो जैसा हो उसके प्रति वैसा ही व्यवहार रखना चाहिए। हाँ, इतना तो होता है कि वे जैसे भी हैं, अपने परिवार के हैं— इस कारण उन्हें सन्मार्ग पर लगाने का भाव ज्ञानियों को भी आता है, वे युक्ति एवं स्नेह के आलंबन से ऐसा करने का प्रयास भी बहुत अधिक करते हैं; परन्तु बात न बने तो अधिक खेदखिन्न नहीं होते और उक्त चार प्रकार की भावना भाते हुए शान्ति धारण करते हैं।

उक्त चार प्रकार की भावनाओं के सम्बन्ध में एक विशेष बात ऐसी भी प्रतीत होती है कि उन्हें हमें दो वर्गों में बाँटकर समझना चाहिए— 1. मैत्री भावना, 2. प्रमोद, करुणा, मध्यस्थ भावना।

कहने का तात्पर्य यह है कि वैसे तो एक मैत्री भावना में ही सारी बात आ गई, परन्तु यदि वह हम न कर सकें, सबको सदा समान न समझ सकें तो दूसरे वर्ग के अनुसार ही भेदभावना करो, परन्तु अन्य कोई क्षुद्रतापूर्ण भावना कदापि न करो। ❖❖

पाँच समितियों का व्यापक अर्थ : श्रावकों की अपेक्षा से

पाँच समितियों के सम्बन्ध में प्रायः लोग ऐसा ही समझते-समझाते हैं कि ये मुनिराजों के होती हैं और इनका स्वरूप इस प्रकार है— चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है, हित-मित-प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है, दिन में एक बार खड़े होकर आहार ग्रहण करना एषणा समिति है, पिच्छी-कमण्डलु-शास्त्र आदि को देखभाल कर उठाना-रखना आदान-निक्षेपण समिति है और निर्जन्तु स्थान देखकर वहाँ मल-मूत्र त्यागना व्युत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति है।

किन्तु यह अर्थ बड़ा ही सीमित एवं स्थूल है। यदि थोड़ी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इसमें से और भी अनेक महत्त्वपूर्ण अर्थ प्रकट होते हैं।

दरअसल, 'समिति' का अर्थ होता है— सम्यक् प्रवृत्ति¹, अतः पाँच समितियों का सही अर्थ इसप्रकार बनता है कि गमनागमन-सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहते हैं, भाषा या वचन-सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को भाषा समिति कहते हैं, एषणा (भोजन) सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को एषणा समिति कहते हैं, वस्तुओं को रखने-उठाने सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं और मलिनता के विसर्जन हेतु रखी जाने वाली समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को प्रतिष्ठापना समिति करते हैं।

वैसे तो यदि मुनियों के सन्दर्भ में ही देखा जाए तब भी इनका अर्थ उपर्युक्तानुसार सीमित नहीं है, उसमें अनेक विशेष-विशेष बातें और भी आती हैं जिनकी चर्चा श्रमणाचार-विषयक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जाना चाहते हैं, किन्तु इनका पूरा अर्थ समझने के लिए इन्हें श्रावकों के सन्दर्भ में भी देखना चाहते हैं, जो कि बहुत आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रों में श्रावकों को भी यथाशक्ति पाँच समितियों के पालन की प्रेरणा दी गई है, जैसा कि 'लाटी संहिता' के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होता है—

1. 'सम्यगितिः समितिरिति।'

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9/5/2

vfk& सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है।

“यथा समितयः पंच सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः।
अहिंसाव्रतक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः॥”

वर्क अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए श्रावकों को भी पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का देशतः पालन करना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार व्रत मुनि और श्रावक –दोनों के होते हैं, उसीप्रकार समिति भी मुनि और श्रावक –दोनों के ही अनिवार्यतः होती है। अन्तर मात्र इतना होता है कि जिसप्रकार मुनियों के व्रत महाव्रत होते हैं और श्रावकों के अणुव्रत, उसीप्रकार मुनियों की समिति महासमिति होती है और श्रावकों की अणुसमिति।

विषय बहुत विस्तृत एवं गंभीर है, परन्तु हम यहाँ मात्र श्रावकों के सन्दर्भ में इन पाँच समितियों का स्वरूप कैसा होगा— इस विषय पर कुछ विचार करना चाहते हैं, वह भी आधुनिक सन्दर्भों में। पाँच समितियों का अर्थ आधुनिक सन्दर्भों में श्रावकों के प्रसंग में कुछ इसप्रकार समझा जा सकता है। यथा—

I. **बिःक** **lfevr gel**। **॥Jkodk**। **l** **dgrh g** **fd&**

1. पैदल तो आगे और नीचे देखकर चलना ही चाहिए, परन्तु साईकिल, स्कूटर, गाड़ी आदि वाहन भी देखकर ही चलाना चाहिए, अन्यथा ईर्या समिति का पालन नहीं हो सकेगा।
2. यातायात के नियमों का पालन भी अवश्य करना चाहिए। यथा— लाल बत्ती नहीं पार करना चाहिए। गलत दिशा में (दाएँ) नहीं चलना-चलाना चाहिए। जेबरा क्रॉसिंग या पारगामी पुल से ही दूसरी तरफ जाना चाहिए, रेलिंग कूदकर या पटरी पर से नहीं जाना चाहिए। रेलवे फाटक बन्द हो तो उसमें से नहीं निकलना चाहिए। रेलगाड़ी में ऊपर छत पर बैठकर यात्रा नहीं करना चाहिए। चलते समय वार्तालाप, हँसी-ठट्टा नहीं करना चाहिए। फोन पर बात करते हुए सड़क पार नहीं करना चाहिए तथा गाड़ी भी नहीं चलाना चाहिए। गाड़ी को निर्धारित गति-सीमा में ही चलाना चाहिए, उससे तेज नहीं।
3. इसीप्रकार की अन्य भी गमनागमन-सम्बन्धी समस्त सावधानियाँ ईर्या समिति में गर्भित जाननी चाहिए, क्योंकि उनके नहीं पालने से स्व-पर को कष्ट होगा, हिंसा होगी, जीवदया नहीं पलेगी।

II. **Hkk"kk** **lfevr gel**। **dgrh g** **fd&**

1. गाली-गलौच के अशिष्ट शब्द मत बोलो।
2. क्रोध, मान, माया आदि से युक्त वचन मत बोलो।

3. असत्य वचन मत बोलो।
4. अहितकर वचन मत बोलो।
5. अनावश्यक वचन मत बोलो।
6. अनुचित अवसर पर मत बोलो, उचित अवसर पर ही बोलो।
7. आत्मप्रशंसा व परनिन्दारूप वचन मत बोलो।
8. इत्यादि वचन सम्बन्धी समस्त सावधानी भाषा समिति में गर्भित जाननी चाहिए, क्योंकि उसके न पालने से स्व-पर की हिंसा होगी।

III. , "k.kk l fefr gel dgrh g fd&

1. अभक्ष्य (त्रसघात, बहुघात, नशाकारक, अनिष्ट, अनुपसेव्य) का भक्षण न करें।
2. अकाल में भोजन (रात्रिभोजन) न करें।
3. टी.वी. देखते हुए, फोन पर बात करते हुए भोजन न करें, वरना भोजन नहीं देखा जा सकेगा, जीवदया नहीं पलेगी।
4. बातें करते हुए, हँसी-ठट्टा करते हुए भोजन न करें।
5. अपनी रसोई भी सभालकर रखें, खाद्य सामग्री को अमर्यादित काल तक न रहने दें।
6. भूख से अधिक भोजन न करें।
7. अतिथि को भोजन करा कर ही भोजन करें। जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन-पूर्वक ही भोजन करें।
8. जूठा न छोड़ें।
9. बाजार का बना अशुद्ध भोजन न करें।
10. रसोई में दाल, सब्जी, मिठाई, रस आदि कुछ भी खाद्य सामग्री फैलाना नहीं चाहिए, क्योंकि उससे गन्दगी फैलती है और जीवहिंसा होती है।

IV. vkku&fu{ki.k l fefr gel dgrh g fd&

सभी वस्तुएँ सदा उचित स्थान पर भलीभाँति रखना चाहिए; क्योंकि ऐसा न करने पर स्वयं को भी और दूसरों को भी असुविधा होती है, दुःख होता है, चोट लग सकती है, मृत्यु भी हो सकती है। यही हिंसा है। अतः श्रावकों को यह समिति कुछ इस प्रकार से पालनी चाहिए—

1. जूटे और शुद्ध बर्तनों को अलग-अलग अपने उचित स्थान पर रखें। जूटे बर्तन कहीं भी कैसे भी न छोड़ें।

2. जूते-चप्पल, मोजे, पॉलीथीन बैग आदि उचित स्थान पर रखें।
3. अपनी गाड़ी को गलत जगह, गलत तरीके से पार्क न करें।
4. सूखे, गीले और प्रेस किये कपड़े भी अपने-अपने उचित स्थान पर रखें।
5. फल, सब्जी, मिठाई, तेल, घी, मसाले आदि सभी खाद्य सामग्री भी सावधानी से यथास्थान रखें और लें।
6. रुपये, ज्वैलरी आदि भी उचित स्थान पर ठीक से रखें।
7. सभी पुस्तकों को पुस्तकालय, मंदिर या घर में उचित स्थान पर ही रखें।
8. पिन, आलपिन, सुई, कांच, ब्लेड, चाकू, कैंची, कील, चश्मा, पेन, पैन्सिल आदि उचित स्थान पर रखें।
9. दवाइयाँ, थर्मामीटर आदि औषध उपकरणों को ठीक से रखें, अन्य सामान भी उचित स्थान पर ही रखें।
10. बच्चे भी अपनी सभी चीजें जैसे लंच बॉक्स, पेन, पुस्तक, बेल्ट, सॉक्स, ड्रेस आदि उचित स्थान पर ठीक से रखें।

V. ifr"Bkiuk ;k 0;Rlx lfe fr gel dgrh g fd&

1. मल-विसर्जन उचित स्थान पर ही करना चाहिए। जहाँ-तहाँ कहीं भी नहीं करना चाहिए, मार्ग में भी नहीं। यदि शौचालय में जाते हैं तो भी ठीक से करें, सीट के बाहर मल न गिरावें, सीट भी गन्दी न छोड़ें।
2. मूत्र-विसर्जन भी निर्जन्तु एवं उचित स्थान पर ही करें। जहाँ कहीं भी नहीं करें। मंदिर, स्कूल आदि भवनों की दीवारों पर नहीं करें।
3. नाक कहीं भी छिनकना और पौछना नहीं चाहिए। अपितु उचित स्थान पर ही ऐसा करना चाहिए।
4. थूकना भी उचित स्थान पर उचित प्रकार से ही चाहिए। लोग तो पान-गुटखा कहीं भी थूकते हैं, जबकि वह तो खाना ही नहीं चाहिए। इसीप्रकार लोग बीड़ी, सिगरेट का धुआँ भी कहीं भी फेंकते हैं, पर वह भी बिल्कुल सेवन नहीं करना चाहिए।
5. नाखून काटकर कहीं भी नहीं फेंकना चाहिए।
6. सिर एवं दाढ़ी-मूँछ के बाल भी इधर-उधर कहीं भी नहीं डालना चाहिए। घर में जहाँ-तहाँ न फैलाना चाहिए।
7. खाँसते समय भी मुँह पर कपड़ा या हाथ लगाना चाहिए, अन्यथा इससे दूसरे को बीमारी हो सकती है।

8. इलैक्ट्रॉनिक कूड़े (बैटरी, कम्प्यूटर, सीडी, बल्ब) को सावधानी के साथ उचित स्थान पर पहुँचाना चाहिए।
9. कूड़ा-कचरा जहाँ कहीं भी नहीं डालना/फेंलाना चाहिए।
10. काँच का कूड़ा भी उचित स्थान पर ही डालना चाहिए।
11. हड्डी, खून, खून का कपड़ा आदि भी उचित स्थान पर ही डालना चाहिए।
12. पुरानी सुई, ब्लैड, सिरीज आदि भी उचित स्थान पर ही डालना चाहिए।
13. किसी भी प्रकार की गन्दगी को नदियों में छोड़कर उन्हें प्रदूषित नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ हमने पाँचों समितियों में गर्भित होने वाले व्यापक अर्थों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है। आशा है सुधी पाठक इसी प्रकार की और भी बहुत सारी बातें अपने आप समझ लेंगे।

आजकल 'स्वच्छ भारत अभियान' के तहत, पूरे देश में स्वच्छता पर बहुत जोर दिया जा रहा है। इन समितियों के पालन से सहज ही स्वच्छता का वातावरण भी निर्मित होगा।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि पाँच समितियों में जीवन का सम्पूर्ण सदाचार एवं शिष्टाचार समाहित हो जाता है, क्योंकि उसके न पालने से किसी-न-किसी प्रकार से हिंसा होती है, जीवदया नहीं पलती और उनके पालन से आत्मिक उन्नति के साथ-साथ पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय हित भी सिद्ध होते हैं। यही जैनाचार्यों की उभयलोक-हितकारी भावना है। ❖❖

जैनाचार्यों का सामाजिक चिन्तन

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव! ॥

यह आचार्य अमितगति द्वारा रचित ‘भावनाद्वात्रिंशिका’ का प्रथम श्लोक है जिसे ‘भावना-बत्तीसी’ या ‘सामायिक पाठ’ के नाम से भी जाना जाता है। इसके अनेक हिन्दी-अनुवाद भी लोकप्रिय हैं। प्रथम श्लोक का एक हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

“प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो!
करुणास्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो!”

इसी प्रकार का एक अन्य सुन्दर पद्यानुवाद इस प्रकार है—

“हे देव! मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को ।
मैत्री करे सब प्राणियों से गुणिजनों से प्रेम को ॥
उन पर दया करती रहे जो दुःखग्राह गृहीत हैं ।
उनसे उदासी सी रहे जो धर्म से विपरीत हैं ॥”

‘भावना-बत्तीसी’ के उक्त श्लोक में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक विषय समझाया गया है, जो एक तरह से पूरे नीतिशास्त्र का सार है। लगभग सारा नीतिशास्त्र इसी का विस्तार है। इसमें हमारे नित्यप्रति काम में आने वाला एक ऐसा अनमोल मार्गदर्शन भी है जिसे अपनाकर हम अपना एवं अपने समाज का जीवन उन्नति के शिखर पर ले जा सकते हैं।

दुनिया में अनेक प्रकार के लोग हैं। हम उन सभी के प्रति एक-सा व्यवहार नहीं कर सकते, करना भी नहीं चाहिए। तो फिर कैसा करें, यहाँ इसी की उत्तम भावना भाई जा रही है। यथा—

- | | | |
|---------------------------------|---|---------------------------|
| 1. सामान्यतः सभी जीवों के प्रति | — | मैत्री भावना होनी चाहिए। |
| 2. गुणी जनों के प्रति | — | प्रमोद भावना होनी चाहिए। |
| 3. दुःखी जनों के प्रति | — | करुणा भावना होनी चाहिए। |
| 4. दुर्जनों के प्रति | — | मध्यस्थ भावना होनी चाहिए। |

इन चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन 'भावना-बत्तीसी' के अतिरिक्त अन्य भी अनेकानेक जैन ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य उमास्वामी मुनिराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' (7/11) में भी कहा है—

‘मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ।’

अतः इन पर हमें बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए और फिर इसी के अनुरूप व्यवहार भी करना चाहिए। इससे सबका मंगल होता है।

1- e=H Hkkouk& अर्थात् हे देव! मैं तीन लोक के सभी जीवों को अपना मित्र समझूँ, चार गति चौरासी लाख योनियों के समस्त जीवों को भी अपना मित्र समझूँ, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तक को भी अपना मित्र समझूँ। इसीप्रकार अरिहंत, सिद्ध आदि को भी अपना मित्र समझूँ। मित्र समझने का अर्थ है कि सबको समान समझूँ, उनमें छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं करूँ, क्योंकि मित्रता समानता के भाव में ही होती है, छोटे-बड़े के भाव में नहीं— ‘समानशीलेषु सख्यम्’।

सभी जीव वस्तुतः स्वभाव से एक समान ही हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। हम अज्ञानवश व्यर्थ ही लिंग, जाति, वर्ण, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों के आधार पर उन्हें छोटा या बड़ा मानकर बड़ी भारी गलती करते हैं; क्योंकि जब हम किसी को छोटा मानते हैं तो हमारे अन्दर अभिमानादि उत्पन्न होते हैं और हम उन्हें शोषित करते हैं, जिससे हमारा मानसिक-सामाजिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार का पतन होता है। तथा जब हम किसी को बड़ा मानते हैं तो हमारे अंदर दीनता, लोभादि के भाव उत्पन्न होते हैं और उनसे भय, याचना आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। अतः सभी जीवों को समान मानना आवश्यक है। समान मानने से वीतरागता उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मित्रता की भावना का अभिप्राय हुआ कि छोटे-बड़े के रूप में देखने की पर्यायदृष्टि छोड़ो और सभी को द्रव्यदृष्टि से समान देखो। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ‘प्रवचनसार’ (गाथा 93) में पर्यायदृष्टि जीव को मिथ्यादृष्टि (मूढ) कहा है।

देखो आश्चर्य की बात कि आचार्यदेव तो हमें सब जीवों को समान/मित्र मानने की शिक्षा दे रहे हैं और हम हैं कि भाई-भाई में, मनुष्य-मनुष्य में, जैन-जैन तक में ही छोटे-बड़े की भावना कर रहे हैं, अपने ही भाई के प्रति शत्रु-जैसा व्यवहार कर रहे हैं। यह बड़े खेद की बात है।

अतः हमें चाहिए कि हम किसी को भी छोटा या बड़ा न समझें, सब जीवों को समान ही समझें, कभी भी किसी की उन्नति में ईर्ष्या न रखें, किसी के भी दुःख की कामना न करें और सभी के कल्याण की कामना करें। यथा—

1. “सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद

दुःखभाग् भवेत् ।।”

2. “भावना दिन-रात मेरी सब सुखी संसार हो ।”

3. “सुखी रहें सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे ।”

पुनश्च, यहाँ जिसप्रकार छोटे-बड़े की भेद-भावना करने का निषेध किया गया है, उसीप्रकार अपने-पराये की भेद-भावना का निषेध भी घटित कर लेना चाहिए। क्योंकि तीन लोक में कोई भी जीव वास्तव में अपना या पराया नहीं है। सब अपने हैं, सब पराये हैं। विश्वप्रेम और वीतरागता में कोई अन्तर नहीं है। कहा भी है—

‘त्यक्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः। नो चेद्- कर्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः।’

सबको मित्र मान लेने पर क्रोध, मानादि भाव खत्म हो जाते हैं। मित्र से कैसा क्रोध, कैसा मान, कैसी ईर्ष्या आदि। मित्र मान लेने पर ऐसा नहीं हो सकता कि पड़ोसी की उन्नति हो और हमारा खून जले इत्यादि। इसप्रकार यह मैत्री भावना हमें घोर पापों से बचाती है और वीतरागता के मार्ग में लगाती है।

2- iekn Hkkouk& जो जीव गुणवान हैं— समीचीन श्रुत, ज्ञान, चारित्र, तप, शील, विनय, करुणा, सत्य, संयम आदि गुणों से सम्पन्न हैं उनके प्रति हमारे हृदय में प्रमोद भावना होनी चाहिए। प्रमोद भावना होने से स्वयं के गुणी होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग किसी के गुणों की सराहना नहीं कर पाते, क्योंकि इसके लिए बड़ा हृदय होना आवश्यक है जो उनके पास नहीं होता। सर्वप्रथम तो इसके लिए उन्हें अपने में विद्यमान दोषों को भी छोड़ना नहीं तो कम से कम दोष के रूप में स्वीकारना तो अवश्य ही पड़ता है। यही लोग नहीं कर पाते। अपने दोषों को स्वीकारना भी तो शूरवीरता का काम है। दोष छिपाना सभी जानते हैं, परन्तु दोषों को स्वीकार करना और फिर उन्हें मिटाना कोई महावीर ही जानता है।

कितने ही लोग तो अपने दोषों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की दिल्ली अभी बहुत दूर समझना चाहिए। वे तो दोषों में ही स्थित रहने के कारण ‘दुष्ट’ कहे गये हैं। सज्जनों को उनकी संगति शीघ्र ही छोड़ देनी चाहिए।

इसीप्रकार कितने ही लोग दूसरों के गुण को ‘गुण’ के रूप में देखना तो दूर, अपितु दोष के रूप में ही देखते-कहते हैं। सोचिए वे कब सुधरेंगे? यथा— कितने ही लोग दूसरे के गुणों से ईर्ष्या भाव रखते हैं अथवा उनकी हँसी उड़ाते हैं, उपेक्षा करते हैं, निंदा करते हैं। विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में वे स्वयं उन गुणों को कब कैसे धारण करेंगे? पुराण उठाकर देखें तो पता चलता है कि गुणीजनों की निन्दा करके आजतक इस जीव ने घोर पाप किया है और अपने आपको चिरकाल

के लिए गुणप्राप्ति के मार्ग से कोसों दूर कर लिया है।

कितने ही लोग तो सभा में, शास्त्रसभा में गुणीजनों (साधु तक) की निन्दा करते हैं। वह घोर पाप का कारण है। कितने ही लोग तो गुणी जनों को नाना प्रकार से तिरस्कृत और पीड़ित करते हैं, उन पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, उनको शारीरिक-मानसिक कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि उनकी मृत्यु तक का उपाय रचते हैं। यह भी महापाप का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं गुणी बनने के लिए दूसरे गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव आना आवश्यक है। जबतक अपने दोषों के प्रति खेद और दूसरे के गुणों के प्रति प्रमोद की भावना हृदय में जागृत नहीं होती तब तक व्यक्ति दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण नहीं कर सकेगा।

3- दुःखी जो जीव दुःखी है; शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि किसी भी प्रकार के दुःखों से परेशान है, उनके प्रति हमारे हृदय में करुणा की भावना होनी चाहिए। देखा जाता है कि कितने ही लोग दुःखी जनों की हँसी उड़ाते हैं अथवा उन्हें और अधिक दुःखी करते हैं। परन्तु ऐसा करना अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है, घोर पापबन्ध का कारण रचना है। कभी भूलकर भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। विकलांग आदि दुःखी जीवों की हँसी उड़ाने से हमें स्वयं भी आगामी जन्म में वैसा ही दुःख उठाना पड़ता है। अतः जैनधर्म समस्त दुःखी, दलितों, शोषितों के प्रति करुणा रखना सिखाता है।

इसीप्रकार कुछ लोग दुःखी जनों को देखकर ऐसा विचार करते हैं कि होंगे दुःखी, मैं क्या करूँ, मैंने कोई ठेका ले रखा है, इसमें मेरी क्या लगती है, सब अपने कर्मों से दुःखी है, भोगें अपने कर्मों की सजा; परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है, इससे परिणाम कठोर एवं लोकनिन्द्य बनते हैं।

कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो स्वयं तो दुःखियों की सहायता करते ही नहीं, यदि कोई दूसरा करे तो उसे भी रोकते हैं, रोकना चाहते हैं। यह अन्तराय कर्म के आस्रव-बन्ध का कारण है।

4- दुष्ट संसार में कुछ लोग अत्यन्त दुष्ट स्वभाव के होते हैं। हमें उनके प्रति रागपूर्ण या द्वेषपूर्ण कैसा भी व्यवहार-सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, उनसे कटु या मधुर कैसा भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही स्थितियाँ घातक हैं। कटु सम्भाषण किया तो वे हमारा सिर फोड़ देंगे और यदि मधुर सम्भाषण किया तो हमारे सिर पर पैर रखने लगेंगे, अतः दुर्जनों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। उनके प्रति न अच्छा व्यवहार करो, न ही बुरा।

देखा गया है कि कुछ लोग तो दुर्जनों (दुष्टों/कुपात्रों) को सुधारने के चक्कर में अपना जीवन बरबाद कर लेते हैं और कुछ उनका बुरा करने, उनको नष्ट/समाप्त

करने के चक्कर में अपना घोर अहित कर लेते हैं, जबकि ये दोनों ही कार्य अनुचित एवं असंभव हैं। न तो दुर्जनों को सुधारा ही जा सकता है और न ही उन्हें दुनिया से नष्ट/समाप्त किया जा सकता है। अतः यहाँ उनके प्रति मध्यस्थ भाव रखने की भावना भाई जा रही है। जो लोग दुर्जनों को सुधारने के लिए उन्हें हित-शिक्षा देने लग जाते हैं, वे नहीं जानते कि यह उन्हें बहुत महँगा सिद्ध होता है, क्योंकि उस उपदेश से वे सुधरते नहीं, उल्टा उन्हें क्रोध ही उत्पन्न होता है। यथा—

‘उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये , पयःपानं भुजर्घाणां केवलं विषवर्धनम् ।’

अतः सदा यही ध्यान रखना चाहिए कि—

‘सीख दीजिए ताहि को, जाको सीख सुहाय, सीख न दीजे वानरा, घर बयाँ को जाय ।’

दुर्जन को शिक्षा देने की गलती करके अनेक सज्जन लोग भी बहुत कष्ट उठा चुके हैं, अतः यहाँ दुर्जनों से दूर रहने की अर्थात् उनके प्रति मध्यस्थ भावना रखने की कामना की गई है।

यहाँ इतना विशेष है कि ज्ञानीजन दुर्जन के प्रति मध्यस्थभाव रखते हुए भी, उसे कोई हित-शिक्षा न देते हुए भी, उसके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं रखते—वह उनका बुरा करे तब भी, अपितु उसका भी शीघ्र कल्याण हो—ऐसी अंतरंग में शुभ भावना रखते हैं।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ दुर्जन को भी ‘दुर्जन’ संज्ञा हमने दी है, आचार्यदेव ने तो मूल श्लोक में मात्रा ‘विपरीतवृत्ति’ जैसा उचित शब्द ही प्रयोग किया है ‘माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ’।

i'u& उक्त चार प्रकार के जीवों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए— यह तो समझ में आया, परन्तु यह नहीं बताया कि जो हमारे शत्रु हैं उनके प्रति हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए।

mùkj& संसार में कोई भी जीव वास्तव में शत्रु नहीं होता। ज्ञानी जन उसे जब द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो उसके प्रति भी प्रेम/मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और जब पर्यायदृष्टि से देखते हैं तो ‘विपरीतवृत्ति’ होने के कारण मध्यस्थता का भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त उसके गुणों या दुःखों को देखकर उनके मन में प्रमोद या करुणा का भाव भी उत्पन्न होता है। ज्ञानी जन किसी को भी अपना शाश्वत शत्रु नहीं मानते।

i'u& परिवार के लोगों के प्रति कैसी भावना होनी चाहिए?

mùkj& वे भी उक्त चार प्रकारों में ही समाहित हो जाते हैं, उनसे अलग नहीं होते; अतः जो जैसा हो उसके प्रति वैसा ही व्यवहार रखना चाहिए। हाँ, इतना तो होता है कि वे जैसे भी हैं, अपने परिवार के हैं— इस कारण उन्हें सन्मार्ग पर लगाने का भाव ज्ञानियों को भी आता है, वे युक्ति एवं स्नेह के आलंबन से ऐसा

करने का प्रयास भी बहुत अधिक करते हैं; परन्तु बात न बने तो अधिक खेदखिन्न नहीं होते और उक्त चार प्रकार की भावना भाते हुए शान्ति धारण करते हैं।

उक्त चार प्रकार की भावनाओं के सम्बन्ध में एक विशेष बात ऐसी भी प्रतीत होती है कि उन्हें हमें दो वर्गों में बाँटकर समझना चाहिए— 1. मैत्री भावना, 2. प्रमोद, करुणा, मध्यस्थ भावना।

कहने का तात्पर्य यह है कि वैसे तो एक मैत्री भावना में ही सारी बात आ गई, परन्तु यदि वह हम न कर सकें, सबको सदा समान न समझ सकें तो दूसरे वर्ग के अनुसार ही भेदभावना करो, परन्तु अन्य कोई क्षुद्रतापूर्ण भावना कदापि न करो। ❖❖

बहुत सूक्ष्म है भगवान महावीर की अहिंसा

भगवान महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण हेतु अनेकानेक शिक्षाएँ दी हैं, परन्तु उन सबका एक शब्द में सारांश है— अहिंसा। ‘अहिंसा’ भगवान महावीर के सम्पूर्ण उपदेशों का मूलाधार है, एकमात्र केन्द्रबिन्दु है।

भगवान महावीर ने झूठ नहीं बोलने, चोरी नहीं करने और परिग्रह-संचय नहीं करने के लिए भी कहा है, परन्तु उन सबके पीछे भी अभिप्राय केवल अहिंसा-पालन का ही है, क्योंकि उन सबसे हिंसा होती है। झूठ बोलना, चोरी करना, परिग्रह-संचय करना इसीलिए बुरा एवं त्याज्य है, क्योंकि इनसे हिंसा होती है। इसी प्रकार मांसभक्षण, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, रात्रिभोजन आदि जितने भी पापकर्मों का निषेध किया गया है वह भी वस्तुतः इसीलिए किया गया है क्योंकि उनसे हिंसा होती है और जितने भी अहिंसा, करुणा, सत्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि पुण्यकर्मों का उपदेश दिया गया है वह इसीलिए दिया गया है क्योंकि उनसे अहिंसा-पालन होती है।

भगवान महावीर के सम्पूर्ण उपदेशों की एक ही कसौटी है कि जिस किसी भी कार्य से हिंसा हो, वह सब त्याज्य है और जिस किसी भी कार्य से अहिंसा-पालन हो वह सब ग्राह्य (उपादेय) है।

किन्तु भगवान महावीर की हिंसा और अहिंसा की व्याख्या बहुत सूक्ष्म है, उसे इतनी आसानी से नहीं समझा जा सकता। भगवान महावीर के अनुसार हिंसा के लिए किसी दूसरे प्राणी को मारना-सताना ही जरूरी नहीं है, मात्र कुछ बुरे शब्द बोलकर भी घोर हिंसा की जा सकती है। यहाँ तक कि शब्द बोलने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, मात्र अपने मन को मलिन बनाकर ही प्रचुर हिंसा की जा सकती है। तथा इस मन को मलिन बनाने के लिए भी हल्का-सा राग-द्वेष ही पर्याप्त है।

यही कारण है कि भगवान महावीर ने हिंसा-अहिंसा की परिभाषा बारम्बार यही दुहराई है कि आत्मा में राग-द्वेषादि भावों की किंचित् भी उत्पत्ति होना ही हिंसा है और राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। हिंसा-अहिंसा की ऐसी परिभाषा देकर भगवान महावीर ने इस विषय के मूलभूत बिन्दु को ही

पकड़ लिया है। जिस प्रकार मूल से ही वृक्ष जीवित रहता है और मूल के बिना मर जाता है, उसी प्रकार भगवान महावीर की हिंसा-अहिंसा की उपर्युक्त परिभाषा में हिंसा-अहिंसा की दुनिया भर की समस्त बातें गर्भित हो जाती हैं।

राग-द्वेष ही संसार के सबसे बड़े प्रदूषण हैं जो अन्यान्य प्रदूषणों का कारण बनते हैं; राग-द्वेष से बड़ा प्रदूषण दुनिया में दूसरा कोई नहीं है। तथा राग-द्वेष ही संसार के सबसे बड़े शस्त्र भी हैं। सबसे बड़े क्या, वे ही तो असली शस्त्र हैं। यदि वे न हों तो विशाल शस्त्रागार भी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता और यदि वे हों तो सामने रखी कोई एक छोटी-सी वस्तु भी शस्त्र बन सकती है।

सचमुच राग-द्वेष ही आत्मा की सबसे बड़ी गन्दगी है। इतनी बड़ी कि सारे संसार में हमें जो कुछ भी गन्दा दिखाई देता है, वह सब इसी की वजह से दिखाई देता है, अन्यथा इस सारे संसार में कुछ भी गन्दा नहीं है। राग-द्वेष ने ही सारे संसार में सर्वत्र भारी गन्दगी फैला रखी है। दुनिया की समस्त बुराइयों का आधार ये राग-द्वेष ही हैं। यदि राग-द्वेष का ही अभाव हो जाए तो कहीं कुछ गन्दगी या बुराई शेष ही न रहे।

मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तराष्ट्रिय समस्याएँ भी राग-द्वेष से ही उत्पन्न होती हैं। जहाँ राग-द्वेष नहीं है, वहाँ कोई समस्या नहीं है, क्योंकि असल में इस भौतिक जगत् में स्वतः कहीं कोई समस्या नहीं है, सारी समस्याओं का मूल कारण तो ये राग-द्वेष ही हैं।

राग-द्वेष में से भी भगवान महावीर ने 'राग' पर विशेष जोर दिया, क्योंकि द्वेष का भी जनक — मूल कारण वस्तुतः राग ही होता है। यदि राग न हो तो द्वेष भी नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान महावीर स्वयं भी पूर्ण वीतराग हो गए और औरों को भी वीतराग होने की शिक्षा दे गये। कह गये कि जब तक इस राग-भाव को नहीं छोड़ोगे, शुद्ध नहीं हो सकोगे, सुखी नहीं हो सकोगे। संसार का कोई भी पदार्थ अच्छा-बुरा नहीं है, उनमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि नहीं करो, बस, वीतरागी बन जाओ, सबको समान भाव से देखो, तुम पूर्ण सुखी हो जाओगे। जीवन में सुख का भण्डार मिल जाएगा तुम्हें वीतरागता से। ❖❖

क्षमावाणी : एक अनूठा चिन्तन

1. क्षमावाणी महापर्व पर उपदेश दिया जाता है कि आज के दिन हमें अपने शत्रु से मिलना चाहिए, उससे बात करनी चाहिए और उससे क्षमा माँगनी चाहिए —यही सच्ची क्षमावाणी है। यह बात एक अपेक्षा से ठीक है, इस बात को कहने का आशय भी ठीक है, परन्तु इस बात को समझने और अपनाने में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। क्योंकि सामने वाला यदि दुर्जन व्यक्ति हो तो उसके पास जाना और फिर उससे बात करना बड़ा ही हानिकारक सिद्ध हो सकता है। सभी आचार्यों ने दुर्जन से दूर रहने की शिक्षा भी दी है।
2. इसी प्रकार कहा जाता है कि क्षमावाणी को औपचारिकता से ऊपर उठकर मनाना चाहिए, औपचारिकता में कुछ नहीं रखा है; किन्तु इस बात को भी स्याद्वाद से ही समझना चाहिए, क्योंकि देखा जाए तो इस औपचारिकता की भी आज बड़ी उपयोगिता है। अधिकांश साधारण व्यक्ति इस औपचारिक आयोजन से ही बड़ी प्रेरणा ग्रहण करते हैं और समाज एवं राष्ट्र में इन औपचारिक आयोजनों से ही बड़ी धर्म प्रभावना होती है। वैसे भी जबतक हम सच्ची क्षमावाणी नहीं मना सकें तबतक ऐसी औपचारिकता भी हमें अनेक लाभ पहुँचाती हुई सच्ची क्षमावाणी मनाने का अवसर प्रदान करती रहेगी। अतः औपचारिकता का सर्वथा निषेध करना ठीक नहीं है।
3. इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि आज के दिन हमें सबको क्षमा कर देना चाहिए। परन्तु सावधानीपूर्वक चिन्तन करें तो समझ में आता है कि यह उपदेश भी सबके लिए नहीं है, मात्र मोक्षमार्ग के साधकों के लिए है। इस उपदेश को सब लोग नहीं पाल सकते। जरा सोचिए —राजा कैसे पाल सकता है? उसे तो अपराधी को दण्ड देना ही होगा। इसी प्रकार अध्यापक, माता-पिता आदि को भी अवसर देखकर उचित दण्ड बालकों को देना ही पड़ता है।



जैन साहित्य का महत्त्व

13 जनवरी 2019 को देश की राजधानी दिल्ली के प्रगति मैदान में विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर हमने भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से 'जैन साहित्य का अवदान' विषय पर एक विशेष परिसंवाद आयोजित किया, जिसमें दिल्ली विश्वविद्यालय और श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ के वरिष्ठ आचार्य प्रो. मदनमोहन अग्रवाल, प्रो. इच्छाराम द्विवेदी, प्रो. जयकुमार उपाध्ये आदि अनेक विद्वानों ने जैन साहित्य के विषय में बहुत ही गूढ़-गम्भीर विचार व्यक्त किये घ उन्होंने जैन साहित्य की व्यापकता, विविधता, सरसता आदि को भलीभांति रेखांकित करते हुए सभी को जैन साहित्य के अध्ययन की मार्मिक प्रेरणा प्रदान की, साथ ही उसे महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी सम्मिलित करने की पुरजोर वकालात की। उन्होंने यह भी कहा कि जो लोग किसी भी प्रकार के दुराग्रहवश जैन साहित्य को नहीं पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे एकांगी हैं, क्योंकि जैन साहित्य तो सर्वोदय की भावना पर आधारित और शाश्वत जीवन-मूल्यों का प्रबल पक्षधर है, कथमपि संकीर्ण नहीं है; भावपक्ष ही नहीं, उसका कलापक्ष भी रमणीय है; इत्यादि।

इस अवसर पर वहाँ अनेक सामान्य नागरिक और पत्रकार भी उपस्थित हुए और उन्होंने मुझसे संक्षेप में सरलता से जैन साहित्य का महत्त्व बताने को कहा। वे अपने समाचार-पत्र या चैनल के माध्यम से देश की सामान्य जनता को समझाना चाहते थे कि आखिर जैन साहित्य का क्या महत्त्व है अथवा जैन साहित्य को पढ़ना आखिर क्यों महत्त्वपूर्ण है। मैंने इस सन्दर्भ में उनको जो कुछ कहा, वह उन्हें बहुत लाभदायक/सन्तोषप्रद प्रतीत हुआ, अतः मैं उसे यहाँ सभी के लाभार्थ लिपिबद्ध कर रहा हूँ। आशा है कोई सुधी विद्वान् इन बिन्दुओं को ठीक से व्यवस्थित और विस्तृत करेगा, ताकि आधुनिक युग के सभी लोगों को जैन साहित्य का महत्त्व भलीभांति समझ में आ सके।

जैन साहित्य के महत्त्व को हम अति संक्षेप में निम्नलिखित दृष्टियों से सुगमतापूर्वक समझ सकते हैं। यथा—

1. **ifjek.k dh -f"V l&** जैन साहित्य परिमाण में बहुत अधिक पाया जाता है। इतना अधिक साहित्य अन्य किसी धर्म-सम्प्रदाय के पास नहीं है। बहुत

अधिक नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद भी आज लगभग दसियों लाख जैन कृतियाँ विद्यमान हैं। जैन साहित्य की विशालता का अनुभव करने के लिए विश्व भर में, गली-गली में, मन्दिर-मन्दिर में व्याप्त जैन ग्रंथालयों की यात्रा करनी होगी तथा उसकी किंचित् झलक पाने के लिए जैनसाहित्य के इतिहास या कोशग्रन्थों को देखना होगा।

2. **fofoekrk dh -f'V l&** जैन साहित्य विविधता की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। तथा उसकी यह विविधता भी विविध प्रकार की है— विषयगत विविधता, विधागत विविधता, भाषागत विविधता आदि। जैन आचार्यों ने प्रायः प्रत्येक विषय पर और प्रायः प्रत्येक ही विधा में जैनग्रन्थों का निर्माण किया है। कुछ भी छूटा नहीं है। यहाँ तक कि उन्होंने अनेक नवीन विषयों और विधाओं का आविष्कार भी किया है। इस सन्दर्भ में मेरा अन्य लेख 'जैन विद्या की व्यापकता' पठनीय है।
3. **thou-eY;k dh -f'V l&** जैन साहित्य जीवन-मूल्यों की दृष्टि से भी अत्यंत समृद्ध है। उसमंद अहिंसा, सत्य, संयम, तप, त्याग, क्षमा, सहिष्णुता आदि अनेक उच्च कोटि के जीवनमूल्यों का ऐसा अद्भुत उपदेश है कि कोई भी मानव सही अर्थों में महामानव बन सकता है। महामानव ही क्या, साक्षात् परमात्मा बन सकता है।
4. **oKkfudrk dh -f'V l&** जैन साहित्य साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर है और उसमें बड़ी वैज्ञानिकता भरी हुई है। उसके संदेश जाति, लिंग, क्षेत्र, भाषा आदि की संकीर्णताओं में नहीं बंधे हैं, अपितु तर्क-युक्ति की कसौटी पर एकदम खरे उतरते हैं और पाठक को सार्वजनिक, सार्वकालिक, सार्वभौमिक हित की शिक्षा देते हैं। यही कारण है कि आज आधुनिक विज्ञान भी जैन दर्शन के प्रायः समस्त आचार एवं विचार का समर्थन कर रहा है।
5. **nk'kfudrk dh -f'V l&** जैन साहित्य उच्च कोटि के दार्शनिक विचारों, तर्क-वितर्कों से अत्यंत समृद्ध है। समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानंद आदि अनेक जैन आचार्यों की दार्शनिक कृतियाँ विश्व-वाङ्मय में अपना अप्रतिम स्थान धारण करती हैं। जैन आचार्यों ने अपने दर्शन को सुव्यवस्थित करने के लिए न्यायशास्त्र का भी अद्भुत विकास किया है, जिस पर भी उनकी लगभग 400 स्वतंत्र कृतियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं।
6. **,frgkfld lUnHkk dh -f'V l&** ऐतिहासिक सन्दर्भों की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है, क्योंकि जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में तत्कालीन घटनाओं, राजाओं, साहित्यकारों आदि का ऐसा दुर्लभ वर्णन मिलता है, जो आज बड़े-बड़े इतिहासकारों को भी आश्चर्यचकित कर देता

है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, अमोघवर्ष, अकबर, शाहजहाँ, जयसिंह, माधोसिंह आदि के विषय में अनेक अज्ञात रहस्य जैन ग्रन्थों में ही छुपे हुए हैं।

7. **dyk dh -f'V l&** जैन ग्रन्थों की अधिकांश पांडुलिपियाँ बहुत ही कलात्मक हैं। उनमें विविध भावों और विषयों को सुंदर-सुंदर चित्रों और सारगर्भित चार्टों के द्वारा ऐसा अलंकृत करके समझाया गया है कि सबका मन प्रसन्न कर देता है। हजारों वर्षों से अब तक उनकी स्याही फीकी भी नहीं पड़ी है। उनका लेखन भी बहुत ही कलात्मक है।
8. **jkf'V; Hkkouk dh -f'V l&** जैन साहित्य धर्म-दर्शन-अध्यात्म आदि विषयों का प्रतिपादन करते हुए भी राष्ट्रिय भावना से ओतप्रोत है। उसमें पदे-पदे राष्ट्रिय हित की कामना व्यक्त हुई है। वह अपने पाठक को एक ऐसा महान राष्ट्रवादी बनाता है, जो सदा सम्पूर्ण राष्ट्र के सर्वतोन्मुखी कल्याण की कामना करता है। जैन साहित्य में एक स्थान पर तो यहाँ तक लिखा है कि यदि राष्ट्र पर विपत्ति आई हो और तुमसे उसका निवारण हो सकता हो तुम अपना मुनि पद छोड़कर भी उस विपत्ति को दूर करो। इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म कितना अधिक राष्ट्रवादी है।
9. **i;koj.k-foKku dh -f'V l&** पर्यावरण-प्रदूषण आज का गम्भीर संकट है, किन्तु जैन साहित्य इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें कदम-कदम पर पर्यावरण-चेतना के मनोहर दर्शन होते हैं। वह पाठक को पर्यावरण के प्रति अत्यंत संवेदनशील बनाता है। उसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को जीव बताकर इनकी रक्षा का मार्मिक उपदेश दिया गया है। पर्यावरण-विशेषज्ञों का कहना है कि यदि हम सब जैन आचार-संहिता का पालन करते होते तो आज हमें पर्यावरण-प्रदूषण के इस गम्भीर संकट का सामना ही नहीं करना पड़ता।
10. **ekuokfèdkj dh -f'V l&** आजकल मानवाधिकारों की बहुत चर्चा चलती है। जैन साहित्य इस दृष्टि से भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें मानव मानव के बीच किसी भी प्रकार का भेदभाव न करके सभी को समान मानने की शिक्षा दी गई है। जैन साहित्य तो मानवाधिकार ही नहीं, प्राणीमात्र के अधिकारों की रक्षा का पक्षधर है।
11. **;kxfoKku dh -f'V l&** आजकल योगविज्ञान की भी बहुत चर्चा चलती है, जैन साहित्य इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन साहित्य में ध्यानयोग विषय पर स्वतंत्र रूप से ही लगभग 300 ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जो कि इस विषय के अन्तरंग-बहिरंग सभी आयामों पर विशद प्रकाश डालते हैं।
12. **vè;kRefo|k dh -f'V l&** 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' अर्थात् विद्याओं में

अध्यात्मविद्या सर्वोपरि है। जैनों का आध्यात्मिक साहित्य भी अनूठा ही है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों ने लाखों लोगों का जीवन बदल दिया है। जैन साहित्य अपने पाठक को सही अर्थों में 'स्थितप्रज्ञ', 'अनासक्त योगी', 'ज्ञाता-द्रष्टा' या 'आध्यात्मिक सत्पुरुष' बनाता है, जो कि सदा सर्वत्र जल में कमल की भांति निर्लिप्त रहने की अद्भुत कला सीख जाता है।

13. **Kku-foKku dh fofoèk 'kk[kkvk dh -f"V I;&** जैन साहित्य ज्ञान-विज्ञान का भंडार है। उसमें केवल धर्म-दर्शन-अध्यात्म ही नहीं है, अपितु अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, गणित, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, न्याय, व्याकरण आदि जीवन के प्रायः सभी विषयों का विस्तृत प्रतिपादन हुआ है।
14. **Hkk"kk dh -f"V I;&** भाषा की दृष्टि से भी जैन साहित्य का विशेष महत्त्व माना जाना चाहिए, क्योंकि वह संसार की लगभग सभी भाषाओं में उपलब्ध होता है। वहाँ किसी एक ही भाषा का कट्टर आग्रह नहीं है। जैनाचार्यों ने 'सर्वभाषा सरस्वती' की नीति पर चलकर जब जहाँ जिस भाषा में लोग समझ सकें, तब वहाँ उसी भाषा का प्रयोग कर लिया है। जैनाचार्यों की भाषा-नीति आज की भाषा-समस्या को जड़मूल से समाप्त करने में समर्थ है।
15. **dk0;Ro dh -f"V I;&** जैन साहित्य काव्यत्व की दृष्टि से भी अद्भुत है। वस्तुवर्णन, अभिव्यंजना, रस, छन्द, अलंकार, भाषा, शैली आदि सभी काव्य-प्रतिमानों की कसौटी पर वह अन्य किसी भी साहित्य से कमतर सिद्ध नहीं होता, अपितु बढ़कर ही सिद्ध होता है— ऐसा सभी समीक्षकों का कहना है।
इसप्रकार यहाँ संक्षेप में जैन साहित्य का महत्त्व बताने का प्रयास किया। यद्यपि यहाँ और भी अनेक बिन्दु प्रस्तुत किये जा सकते हैं और उपर्युक्त बिन्दुओं का भी कुछ और विस्तार किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है, परन्तु संक्षिप्त रुचि को संकेत ही पर्याप्त है— ऐसा समझकर विराम लेता हूँ।

सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम् ।

निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥¹

vFk— जो अल्पाक्षर हो, असंदिग्ध हो, सारवद् हो, गूढ हो, निर्दोष हो, हेतुमत् हो और तथ्यपूर्ण हो, उसे ही विद्वज्जन सूत्र कहते हैं ।

‘सूत्र’ का यह लक्षण सूत्र की अद्भुत गंभीरता को प्रकट करता है ।

सूत्र में एक-एक अक्षर का बहुत महत्त्व होता है, वहाँ कोई एक भी अक्षर निरर्थक नहीं होता, हर अक्षर के पीछे बहुत अर्थ छुपा रहता है । यदि आधी मात्रा भी कम हो जाए और भाव कम न हो तो सूत्रकार को पुत्रप्राप्ति के समान सुख प्राप्त होता है—

‘अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।’

इससे भी सूत्र की अद्भुत गंभीरता का प्रमाण मिलता है । सूत्रों का निर्माण ही नहीं, उनका अध्ययन-अध्यापन भी अत्यधिक कुशलता की अपेक्षा रखता है ।

शास्त्रों में, सूत्र के उपर्युक्त लक्षण में निर्दिष्ट 7 गुणों में से ‘निर्दोष’ विशेषण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सूत्र को 32 दोषों से रहित होना चाहिये—

गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि ।²

‘वृहत्कल्पसूत्र’ में इन 32 दोषों का पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । यथा—

अलियमुवघायजणयं अवत्यगं निरत्ययं छलं दुहिलं ।

निस्सारमहियमूणं पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥

कमभिन्नं वयणभिन्नं विभक्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च ।

अणभिहियमपयमेव य सभावहीणं ववहियं च ॥

काल-जड़-च्छविदोसो समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।

अत्थावत्तीदोसो हवड़ य असमासदोसो उ ॥

उवमा-रुवगदोसो परप्पवत्ती य संधिदोसो य ।

ए ए उ सुत्तदोसा बत्तीसं हुंति नायव्वा ॥³

vFk& 1. अलीक, 2. उपघातजनक, 3. अपार्थक, 4. निरर्थक, 5. छल, 6. द्रुहिल, 7. निस्सार, 8. अधिक, 9. ऊन, 10. पुनरुक्त, 11. व्याहत, 12. अयुक्त, 13. क्रमभिन्न, 14. वचनभिन्न, 15. विभक्तिभिन्न, 16. लिंगभिन्न, 17. अनभिहित, 18. अपद, 19. स्वभावहीन, 20. व्यवहित, 21. कालदोष, 22. यतिदोष, 23. छविदोष, 24. समयविरुद्ध, 25. वचनमात्र, 26. अर्थापत्ति, 27. असमासदोष, 28. उपमादोष, 29. रूपकदोष, 30. परप्रवृत्तिदोष, 31. पददोष, 32. सन्धिदोष —ये सूत्र के बत्तीस दोष जानने चाहिये।

अहो, मुनिगण जिसप्रकार एक-एक ग्रास भोजन का ग्रहण 32 दोषों (अन्तरायों) को टालकर करते हैं, उसीप्रकार एक-एक वाक्य का उच्चारण भी 32 दोषों को टालकर करते हैं। कितनी अधिक सावधानी अपेक्षित है जिनवाणी के कथन में! जिनवाणी की आज्ञा का पालन करने के लिए जिनवाणी के प्रत्येक वक्ता को सूत्रों की भाँति बहुत ही संतुलित और सावधानीपूर्ण कथन करना चाहिए अन्यथा घोर पाप का भागी बनना पड़ता है। दूषित कथन करनेवाला वक्ता दण्ड का भागी कहा गया है। ‘वृहत्कल्पसूत्र’ के अनुसार तो दूषित कथन करनेवाला वक्ता यदि साधु हो तो भी दंडनीय है, उसकी सर्व दीक्षा ही निरर्थक कही गई है—

‘सर्वा दीक्षा निरर्थका’।

सूत्र के 32 दोषों का संक्षिप्त विवेचन इसप्रकार है—

1. **vyhd**— अलीक का अर्थ है— मिथ्या, झूठ। यह दो प्रकार का है— अभूतोद्भावन और भूतनिहनव। जो नहीं है उसे ‘है’ कहना अभूतोद्भावन है, जैसे— सृष्टिकर्ता ईश्वर है अथवा वटकणिका मात्र जीव है; और जो है उसे ‘नहीं’ कहना भूतनिहनव है, जैसे— जीव नहीं है।
2. **mi?kr tud&** जिस कथन से हिंसा के भाव उत्पन्न होते हों, उसमें उपघातजनक दोष समझना चाहिये। जैसे— भन मांसभक्षणे दोषः⁴..... (**vFk&** मांसभक्षण में दोष नहीं है.....) इत्यादि।
3. **vikFd&** इसे ‘असंबद्ध’ भी कहते हैं। जिस कथन के अवयवों का तो अर्थ हो, पर उन सबके समुदाय का कोई अर्थ न निकलता हो, वहाँ अपार्थक दोष होता है। जैसे— शंख कदली में है और कदली भेरी में है।
4. **fujFd&** जिस कथन के अवयवों का ही कोई अर्थ न हो वहाँ निरर्थक दोष होता है। जैसे— डित्थ डवित्थ वाजिन।
5. **Ny&** इस ‘छल’ नामक दोष को बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। शास्त्रों में बारम्बार छल ग्रहण नहीं करने का उपदेश दिया गया है। यथा— ‘**चुक्केज्ज छलं ण घेतत्वं**’⁵ अर्थात् यदि कहीं चूक हो जाए तो छल ग्रहण मत करना। वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके कथन में दोषारोपण करना

छल है। यह तीन प्रकार का है— वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल।⁶

- (क) **okDNy&** जैसे— **नवकम्बलोऽयं देवदत्तः।** यहाँ वक्ता ने ‘नव’ शब्द का प्रयोग ‘नवीन’ के अर्थ में किया था, परन्तु कोई उसे ‘नौ’ संख्या के अर्थ में ग्रहण करे तो यह वाक्छल है।
- (ख) **lkekU; Ny**— जैसे— **अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः।** यहाँ वक्ता ने किसी विशेष ब्राह्मण को विद्याचरणसम्पन्न कहा था, परन्तु कोई उसे सभी ब्राह्मणों के सम्बन्ध में ग्रहण करे तो यह सामान्य छल है।
- (ग) **mipkj Ny**— जैसे— **मंचाः क्रोशन्ति।** यहाँ वक्ता ने उपचार से ‘मंच रोते हैं’ कहा था, परन्तु कोई ऐसा अर्थ ग्रहण करे कि मंच जैसे अचेतन पदार्थ कैसे रो सकते हैं, तो यह उपचार छल है।
6. **æfgy**— जिस कथन में पुण्य-पापादि का अपलाप किया जाए वहाँ द्रुहिल दोष समझना चाहिये। जैसे—

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।

(**vFk&** यह लोक इतना ही है जितना कि इन्द्रियगोचर है।)

7. **fulIkj**— जिस कथन में कोई सार न हो, वहाँ निस्सार दोष जानना चाहिये। जैसे—
- अस्थिचर्मशिलापृष्ठं वृद्धः।** (अर्थ— अस्थि-चर्म का ढाँचा मात्र वृद्ध है।)
8. **vf/kd&** जहाँ आवश्यकता से अधिक अवयवों का प्रयोग किया जाए वहाँ ‘अधिक’ दोष होता है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन —ये 5 अवयव हैं; परन्तु इनका प्रयोग यथायोग्य ही करना चाहिये। जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु —इन दो से काम चल जाए वहाँ तीन का प्रयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा ‘अधिक’ दोष होगा।
9. **Au&** जहाँ आवश्यकता से कम अवयवों का प्रयोग किया जाए वहाँ ‘ऊन’ दोष होता है। जैसे— जहाँ मंदबुद्धि शिष्य के बोधार्थ पाँचों अवयवों का प्रयोग आवश्यक है वहाँ चार या तीन अवयवों का ही प्रयोग करना।
10. **iu#Dr&** पुनः-पुनः कहना ही पुनरुक्त है। वह तीन प्रकार का है—
- (क) **vfkiu#Dr&** जैसे— इन्द्र, शक्र, पुरन्दर। यहाँ एक ही अर्थ को विभिन्न शब्दों से पुनःपुनः कहा गया है, अतः यहाँ अर्थपुनरुक्त है।
- (ख) **opuiiu#Dr&** जैसे— सैन्धवमानय, सैन्धवमानय। यहाँ एक ही बात को पुनःपुनः कहा गया है, अतः वचनपुनरुक्त है।
- (ग) **mHk; iu#Dr&** जैसे— क्षीरं क्षीरम्। यहाँ अर्थ और शब्द दोनों को ही पुनःपुनः कहा गया है, अतः यहाँ उभयपुनरुक्त है।

11. **0;kgR&** पूर्वकथन का उत्तरकथन से खण्डित हो जाना व्याहत दोष है। जैसे— **कर्म चास्ति फलं चास्ति भोक्ता नास्ति च निश्चयः।** (अर्थ— कर्म भी है और उसका फल भी है, परन्तु उसका कोई भोक्ता नहीं है।) यहाँ पूर्वकथन उत्तर कथन से बाधित (खण्डित) हो गया है अतः यहाँ ‘व्याहत’ दोष है।
12. **v;Dr—** जो कथन युक्तिसंगत न हो अथवा जो कथन बुद्धि से विचार करने पर युक्ति को सहन न कर सके, उसमें अयुक्त दोष होता है। जैसे—

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः।

प्रावर्तन नदी घोरा हस्त्यश्वरथिवाहिनी ॥

(**vFk&** उन मदोन्मत्त हाथियों के मदबिन्दुओं से ऐसी नदी बह निकली, जो हाथी, घोड़े और अनेक रथों को भी बहा दे।)

अथवा— अनुचित कथन करना अयुक्त दोष है। जैसे— यह शास्त्र आपके चरण-कमलों में भेंट करता हूँ।

13. **ØefkUu—** जहाँ उचित क्रम का उल्लंघन हो जाए वहाँ ‘क्रमभिन्न’ दोष होता है। जैसे— वर्द्धमान के माता-पिता का नाम सिद्धार्थ और त्रिशला है। यहाँ माता-पिता के क्रमानुसार पहले त्रिशला और बाद में सिद्धार्थ कहना चाहिये था, अतः यहाँ क्रमभिन्न दोष है।

अथवा जैसे— ‘उसका हृदय समुद्र और पुष्प की भाँति कोमल और गम्भीर है।’ यहाँ समुद्र का गुण गम्भीरता पहले कहना चाहिये था और पुष्प का गुण कोमलता बाद में; अतः यहाँ भी क्रमभिन्न दोष है।⁷

14. **opufkUu&** उचित वचन का प्रयोग न करना वचनभिन्न दोष है। अर्थात् जहाँ एकवचन का प्रयोग करना चाहिये वहाँ द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग हो जाए अथवा जहाँ द्विवचन का प्रयोग करना चाहिये वहाँ एकवचन या बहुवचन का प्रयोग हो जाए, जहाँ बहुवचन का प्रयोग करना चाहिये वहाँ एकवचन या द्विवचन का प्रयोग हो जाए, वहाँ ‘वचन भिन्न’ दोष होता है।
15. **foHkfDrfkUu&** उचित विभक्ति का प्रयोग न करना अथवा अन्यथा विभक्ति का प्रयोग करना ही विभक्तिभिन्न दोष है। जैसे— जहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग करना चाहिये वहाँ पंचमी विभक्ति का प्रयोग कर देना विभक्तिभिन्न दोष है।
16. **fyxfkUu&** उचित लिंग का प्रयोग न करके अन्यथा लिंग का प्रयोग करना लिंगभिन्न दोष है। अर्थात् जहाँ स्त्रीलिंग का प्रयोग करना चाहिये वहाँ पुल्लिंग या नपुंसकलिंग का प्रयोग कर देना, अथवा जहाँ पुल्लिंग का प्रयोग करना चाहिये वहाँ स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग का प्रयोग कर देना, अथवा जहाँ नपुंसकलिंग का प्रयोग करना चाहिये वहाँ स्त्रीलिंग या पुल्लिंग का प्रयोग

कर देना 'लिंगभिन्न' दोष है।

17. **vufkfg&** जो शास्त्र में नहीं कहा गया है उसे कहना अथवा अपनी इच्छा से कुछ भी कहना अनभिहित दोष है।
18. **vin&** उचित पद का प्रयोग न करना अपद दोष है। जैसे— जहाँ गाथा पद का प्रयोग करना चाहिये वहाँ गीतिका पद का प्रयोग कर देना अपद दोष है।
19. **LoHkogh&** जहाँ किसी वस्तु को उसके आत्मीय स्वभाव से ही रहित बता दिया जाए वहाँ स्वभावहीन दोष होता है। जैसे— वायु स्थिर होती है।
20. **0;ofgr&** प्रकरणान्तर में चले जाना व्यवहित दोष है। जैसे— स्वर्ग-पटलों का वर्णन करते समय उसे बीच में ही छोड़कर नरकभूमि का वर्णन करने लग जाना।
21. **dkynk"l**— भूत-भविष्य-वर्तमान कालों का अन्यथा प्रयोग कालदोष है। अर्थात् जहाँ भूतकाल का प्रयोग करना चाहिये वहाँ भविष्य या वर्तमान काल का प्रयोग कर देना, अथवा— जहाँ भविष्य काल का प्रयोग करना चाहिये वहाँ भूत या वर्तमान काल का प्रयोग कर देना, अथवा— जहाँ वर्तमान काल का प्रयोग करना चाहिये वहाँ भूत या भविष्य का प्रयोग कर देना कालदोष है।
22. **;frnk"l&** यति का अर्थ होता है— विश्राम या विराम। यति (विराम) का अन्यथा प्रयोग यतिदोष है। श्लोक, गाथा या किसी अन्य छन्द में भी यति का एक निश्चित स्थान होता है, उसका उल्लंघन करना यतिदोष है।
23. **Nfonk"l**— छवि का अर्थ है— अलंकार। जहाँ अलंकारों का अनुचित प्रयोग हो वहाँ छविदोष होता है।
24. **le;fo#)**— किसी दर्शन-विशेष के नाम पर उसके विरुद्ध बात कहना समयविरुद्ध दोष है। जैसे— वैशेषिक कहते हैं कि प्रधान कारण है, अथवा— जैन कहते हैं कि स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्मा का अस्तित्व नहीं है।
25. **opuek=**— निराधार कुछ भी यद्वा-तद्वा बोलना वचनमात्र दोष है। जैसे— कोई पुरुष पृथ्वी में कहीं एक कील ठोककर कहे कि यह लोक का मध्य बिन्दु है।
26. **vFkifiUk&** जहाँ कहा गया एक कथन तो निर्दोष दिखाई देता हो, परन्तु उसी में से ध्वनित होने वाला अन्य अर्थ आपत्तिजनक हो वहाँ अर्थापत्ति दोष होता है। जैसे— **ब्राह्मणो न हन्तव्यः** अर्थात् ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये। यहाँ 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये'—यह कथन ऊपर से निर्दोष दिखाई देता है, परन्तु इसमें से यह अर्थ भी निकलता है कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को मारा जा सकता है जो आपत्तिजनक है, अतः यहाँ अर्थापत्ति दोष है।
27. **vlekl&** जहाँ समास का योग प्राप्त होने पर भी समास-रहित पद कहे

जाएँ वहाँ असमास दोष होता है। जैसे— ‘नरेश जा रहा है’ के स्थान पर ‘नर का ईश जा रहा है’ —ऐसा कहना असमास दोष है।

28. **miek&** जहाँ उपमा का अन्यथा प्रयोग हो वहाँ उपमा दोष होता है। जैसे— **कांजिकमिव ब्राह्मणस्य सुरा पेया।** अर्थात् कांजी के समान ब्राह्मण को सुरा पीनी चाहिये। यहाँ सुरा को कांजी की उपमा देकर पेय बताया गया है, अतः यहाँ उपमा दोष है।
29. **: id&** जहाँ रूपक का अन्यथा प्रयोग हो वहाँ रूपक दोष होता है। जैसे— **पर्वतो रूप्यमान् आत्मीयैरङ्गैः शून्यो वर्ण्यते।**
30. **ijiofuk-** जहाँ बहुत अर्थ बताकर भी वस्तु का निर्देश न किया जाए वहाँ परप्रवृत्ति दोष होता है।
31. **in-** जहाँ तिङन्त या सुबन्त रूप पद का अन्यथा प्रयोग हो वहाँ पद दोष होता है। अथवा व्याकरण से असिद्ध पद का प्रयोग करना पद दोष है, जिसे ग्राम्यत्व भी कहते हैं।
32. **lfuk-** जहाँ सन्धि का योग होते हुए भी सन्धि न की जाए अथवा अशुद्ध रूप से सन्धि की जाए वहाँ सन्धि-दोष होता है।

इसप्रकार ये सूत्र के 32 दोष हैं। कुशल सूत्रकार अपने सूत्रों की रचना इन सभी दोषों से बचाकर अत्यन्त निर्दोष रूप से करते हैं।

सम्पूर्ण जिनवाणी सूत्रात्मक कही गई है,⁸ अतः उसके कथन करनेवालों को अत्यधिक सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा घोर पाप का भागी बनना पड़ेगा। आजकल जिनवाणी के अनेक वक्ता दूषित कथन करते देखे जाते हैं। वे सावधान हों, शास्त्रानुकूल कथन ही करें— यही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

दूषित कथन करना धार्मिक एवं साहित्यिक अपराध ही नहीं है, सामाजिक अपराध भी है, क्योंकि दूषित कथनों से समाज में भी अनेक प्रकार के कलह उत्पन्न होते हैं। इसके अनेक उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। अतः हम सबको अपना एक-एक कथन बहुत सोच-समझकर उक्त 32 दोषों को टालकर बड़ी कुशलतापूर्वक आगमानुकूल ही करना चाहिए।

सन्दर्भ सूची

1. (क) पंचसंग्रह, पृष्ठ 585
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृष्ठ 238
2. भगवती आराधना, गाथा 192 की टीका, पृष्ठ 144
3. वृहत्कल्पसूत्र, अनुयोगाधिकार, गाथा 278 से 281
4. मनुस्मृति, अध्याय 5, श्लोक 56

5. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 5
6. “तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम्। तत् त्रिधा वाक्छलं सामान्य-
छलमुपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थान्तरकल्पनया
तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः
संख्यामारोप्य निषेधति—कुतोऽस्य नव कम्बला इति। सम्भावनयाति-प्रसंगिनोऽपि
सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वरोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम्। यथा अहो नु खल्वसौ
ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसंगे कश्चिद्वदति—सम्भवति ब्राह्मणे
विद्याचरणसम्पदिति। तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्भियुङ्क्ते—
यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, ब्राह्मणेऽपि सा भवेत् ब्राह्मणेऽपि ब्राह्मण एवेति
औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचार-च्छलम्। यथा मंचाः क्रोशन्तीति
उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतनाः मंचाः क्रोशन्ति? मंचस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति।”
—प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 2/1/30
7. “अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलंघनम्।
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरुन् देवांश्च वन्दते।।” —सम्यक्त्वकौमुदी, 216
जहाँ प्रसिद्ध क्रम का उल्लंघन होता है वहाँ अपक्रम कहलाता है। जैसे— भोजन करके
स्नान करता है और गुरु एवं देवों की वन्दना करता है।
8. (क) ‘अथ सूत्रावतारः’ —आचार्य अमृतचन्द्र
(ख) ‘गाथा सूत्राणि सूत्राणि’ —जयधवल



‘अशुद्धं पुस्तकं शत्रुः’

पुस्तकें पाठकों की परम मित्र होती हैं, किंतु आजकल बहुत-सी पुस्तकें इतनी अशुद्ध छपने लगी हैं कि अर्थ का अनर्थ हो रहा है। ऐसी पुस्तकों को परम मित्र कदापि नहीं कह सकते, अपितु परम शत्रु ही कहना होगा।

शास्त्रों में भी अशुद्ध पुस्तक को शत्रु कहा गया है, क्योंकि जिस प्रकार अच्छी पुस्तकें मनुष्य का परम हित करने से उसकी परम मित्र सिद्ध होती हैं, उसीप्रकार अशुद्ध पुस्तकें मनुष्य का अहित करने वाली होने से परम शत्रु भी सिद्ध होती हैं।

आश्चर्य होता है कि आज कम्प्यूटर युग में जबकि काम करना बहुत सरल हो गया है, तब भी पुस्तकें शुद्ध नहीं छप पा रही हैं और उनमें अशुद्धियों की भरमार होती है। पहले के जमाने में लोग लैटर प्रेस से बड़ी कठिनाई से पुस्तकों का मुद्रण कर पाते थे, तब भी पुस्तकें प्रायः बहुत शुद्ध छपती थीं और उसके बाद भी जो अशुद्धियाँ रह जाएं तो उनके लिए उसमें अशुद्धि-पत्र भी खेद सहित प्रकाशित किया जाता था, किंतु आजकल तो मानों कोई थोड़ा भी परिश्रम नहीं करना चाहता। दो-चार दिन की मेहनत में ही झट से कोई भी कैसी भी पुस्तक छपाकर ‘पुस्तक-निर्माता’, ‘पुस्तक-प्रकाशक’ आदि का श्रेय ले लेना चाहता है। अच्छी तरह से प्रूफरीडिंग भी कोई करना-कराना नहीं चाहता। यह सब भारी प्रमाद है, घोरान्तिघोर अपराध है, हमें इसको गंभीरता से लेना होगा, अन्यथा भविष्य में शास्त्रों की रक्षा करना ही असंभव हो जाएगा, शास्त्र शस्त्र बन जाएंगे।

वैसे तो अशुद्ध पढ़ना-बोलना, लिखना-लिखाना, छपाना-बेचना सभी बड़े दोष हैं, घोर अपराध हैं, परन्तु अशुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन और वितरण तो सबसे ही बड़ा अपराध है, मूलभूत अपराध है। उसी से अशुद्धि असंख्यगुणित होकर प्रचलित-प्रसारित होती है। अशुद्धि की परम्परा का मूल कारण अशुद्ध प्रकाशन ही है।

यद्यपि अशुद्ध-उच्चारण करने वालों को भी कान खोलकर समझ लेना चाहिए कि यह बहुत बड़ा अपराध है। इसे सम्यग्ज्ञान का एक (प्रथम) दोष या अतिचार बताया गया है। इससे ज्ञानावरण कर्म का आस्रव भी होता है। इसीलिए तो पूजा-पाठ-स्वाध्याय के अंत में सदैव माँ सरस्वती से जाने-अनजाने में हुए अपने समस्त

अशुद्ध उच्चारण के लिए क्षमा-याचना की जाती है। यथा—

“अक्खरपयत्थहीणं मत्ताहीणं च जं मए भणिदं ।
तं खमऊ णाणदेव य मज्झ वि दुक्खक्खयं दिंतु ॥”

—ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृ.107

“यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं, मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥”

—सामायिक पाठ, 10

“अक्षर पद मात्रा से, दूषित जो कुछ कहा गया मुझसे ।
क्षमा करो प्रभु सो सब, करुणा करि पुनि छुड़ाहु भवदुख से ॥”

—विसर्जन पाठ

‘वृहत्कल्पसूत्र’ आदि में तो अशुद्ध उच्चारण करने वाले को बड़े प्रायश्चित्त का भागी बताया गया है, उसकी सर्व दीक्षा ही निरर्थक कही गई है। यथा—

“हीनाक्षरेऽधिकाक्षरे च अर्थव्याप्तिः, अर्थस्य विसंवादः। अर्थस्य विसंवादे चरणस्य विसंवादः। चरणविसंवादात् न मोक्षः, मोक्षाभावः। मोक्षाभावे सर्वा दीक्षा निरर्थिका ।”

अशुद्ध उच्चारण करने से शरीर में भी अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है— ऐसा ‘चरक संहिता’ में लिखा है। इसके अतिरिक्त अशुद्ध उच्चारण से प्रमाद, बुद्धिहीनता, कुटिलता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

अशुद्ध उच्चारण से वक्ता अशुद्धता का आदी बन जाता है। वह उस शब्द को सदा ही अशुद्ध बोलता है। जैसे— कुछ लोग ‘वीतराग भेंद्यों अबै मेटो राग कुटेव’ को सदैव ‘वीतराग मेटो अबै, भेंद्यों राग कुटेव’ बोलते हैं। अतः प्रयत्न करके अशुद्धियों का निवारण कर देना चाहिए।

बहरहाल, पुस्तकों का अशुद्ध प्रकाशन और वितरण तो वाकई बहुत बड़ा अपराध है। सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, साहित्यिक सभी प्रकार का अपराध है। इससे व्यक्ति का ही अहित नहीं होता, अपितु समूचे साहित्य-जगत, समाज और राष्ट्र की भी महान हानि होती है।

मैं तो समझता हूँ कि अशुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन और वितरण एक अक्षम्य अपराध है, दण्डनीय अपराध है। अशुद्ध पुस्तकों के प्रकाशकों को दंडित करने की समाज में कोई व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु दण्डित करना तो दूर, आश्चर्य है कि आज अशुद्ध पुस्तकों के प्रकाशकों से कोई कुछ नहीं कहता। पत्रकार बन्धु भी आजकल उनके बारे में कुछ नहीं कहते। पहले तो पत्र-पत्रिकाओं में पत्रकार महोदय ही ‘पुस्तक-समीक्षा’ लिखकर अशुद्ध पुस्तकों की अच्छी खबर लेते थे,

परन्तु आजकल तो उन्होंने भी इधर ध्यान देना छोड़ दिया है। वे 'पुस्तक-समीक्षा' स्तंभ में पुस्तक का केवल बाह्य परिचय मात्र देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं, समीक्षा बिलकुल नहीं करते। इससे भी आजकल अशुद्ध पुस्तकों की बाढ़ आने लगी है।

अशुद्ध पुस्तकों के साथ एक और भी बड़ी भारी दिक्कत यह होती है कि उन अशुद्ध पुस्तकों का शुद्ध अंश भी विश्वसनीय नहीं रहता। कदम-कदम पर ऐसा लगता रहता है कि कहीं यह भी अशुद्ध नहीं छप गया हो। जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (4/273) में लिखा है कि "एक अशुद्धि सौ शुद्धियों का घात कर देती है।"

अतः सभी पुस्तक-प्रकाशकों से निवेदन है कि वे इस संबंध में विशेष सावधानी रखने का प्रयास करें। पुस्तक की प्रतियाँ संख्या में भले ही कम प्रकाशित हों, पर पुस्तक का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः कैसे भी करके प्रकाशन से पूर्व किसी अच्छे प्रूफरीडर विद्वान को वह पुस्तक दिखा लेना चाहिए और भले ही थोड़ा समय लगे, पर पुस्तक शुद्ध ही प्रकाशित होना चाहिए। इसी से समाज और साहित्य की उन्नति होगी।

कुछ लोग यश के लिए जल्दी-जल्दी बहुत अधिक लेखन-प्रकाशन करते हैं, पर वे नहीं जानते कि घटिया प्रकाशन से यश नहीं, अपयश मिलता है। यश के लिए कार्य चाहे एक ही हो, पर श्रेष्ठ होना चाहिए। ❖❖

शास्त्रों के श्रोता को भी विद्वान् होना चाहिए

यूँ तो जिनवाणी का श्रोता या पाठक कोई भी हो सकता है— एक अत्यन्त अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) भी, और सभी को अपनी-अपनी योग्यतानुसार शास्त्रों के श्रवण और पठन का फल भी अवश्य प्राप्त होता है; परन्तु शास्त्रों के एक-एक वाक्य में जो विविध अर्थ और गूढ़-गम्भीर अभिप्राय छिपे होते हैं, उनको विद्वान् श्रोता या पाठक ही सही रूप में समझ सकता है, साधारण श्रोता नहीं; अतः जिनवाणी के सभी श्रोताओं को यथासंभव विद्वत्ता (विविध शास्त्रों का ज्ञान) अर्जित करने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। कोई भी बहाना बनाकर अपना प्रमाद पुष्ट करना उचित नहीं है।

इस संदर्भ में ‘पंचसंग्रह’ का एक श्लोक गंभीरतापूर्वक विचारणीय है—

“अप्रतिबुद्धे श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम् ।
नेत्रविहीने भर्तरि विलासलावण्यमिव स्त्रीणां ॥”

vFk& जिसप्रकार नेत्रविहीन पति के आगे पत्नी का शृंगार-सौन्दर्य एवं हाव-भाव-विलास निष्फल रह जाता है, उसीप्रकार अप्रतिबुद्ध श्रोता के आगे विद्वान् पुरुष का शास्त्र-व्याख्यान करना व्यर्थ रह जाता है।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने भी ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में श्रोता का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि यदि उसे न्याय-व्याकरणादि का ज्ञान हो तो श्रोतापना विशेष शोभा देता है।

उन्होंने वहाँ अन्यत्र भी अनेक बार विविध शास्त्रों के ज्ञानार्जन की बड़ी प्रेरणा दी है। यथा—

1. “अच्छा ज्ञान होने के अर्थ शब्द-न्यायशास्त्रादिक को भी जानना चाहिए। इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार सभी का थोड़ा या बहुत अभ्यास करना योग्य है।”
—(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 201)

¹ बत्तीस दोषों के सम्बन्ध में मैंने एक अन्य स्वतंत्र लेख लिखा है— ‘सूत्र के बत्तीस दोष’ देखें— ‘अनुक्रम’।

2. “शास्त्र में ऐसा कहा है— सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् । इसका अर्थ यह है— सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है । विशेष से ही अच्छी तरह निर्णय होता है, इसलिए विशेष जानना योग्य है ।” —(वही, पृष्ठ 202)

3. “सामान्य जानने से विशेष जानना बलवान है । ज्यों-ज्यों विशेष जानता है त्यों-त्यों वस्तु-स्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है, रागादि घटते हैं, इसलिए उस अभ्यास में प्रवर्तना योग्य है ।” —(वही, पृष्ठ 294)

4. “उनके (व्याकरण, न्याय, काव्यशास्त्र के) अभ्यास के बिना महान् ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं है, इसलिए उनका भी अभ्यास करना योग्य है ।” —(वही, पृष्ठ 231)

इसका कारण यह है कि शास्त्रों के एक-एक कथन में बड़ी गंभीरता भरी होती है । आचार्य अत्यधिक परिश्रमपूर्वक बत्तीस दोष¹ टालकर एक-एक वाक्य की रचना करते हैं । उनमें बहुत व्यापक अर्थ निहित होते हैं । अर्थ की इस गंभीरता को विद्वान् व्यक्ति ही ठीक से समझ सकता है, मूर्ख या अल्पबुद्धि नहीं; उसीप्रकार जिसप्रकार प्रसव-पीड़ा को कोई भुक्तभोगी स्त्री ही भलीभाँति जान सकती है, वन्ध्या स्त्री नहीं । यथा—

“विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥”

शास्त्रों के वाक्यों में प्रायः सर्वत्र कथ्य के साथ निराकृत्य भी बहुत छुपा होता है और अनेक बार वही उस कथन का असली उद्देश्य भी होता है, जिसे पूर्वपक्षादि को जाने बिना नहीं समझा जा सकता । बहुत लोग ‘समयसार’ को पढ़ते हैं; परन्तु उसमें भी इतर दर्शनों की इतनी बातें हैं कि उनको समझे बिना ‘समयसार’ की गाथाओं के पीछे छिपे गूढ़ार्थों को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता । उदाहरणार्थ वैशेषिक आत्मा के अनेक लिंग बताते हैं, यदि हमें उसका ज्ञान हो तो ही हम ‘समयसार’ की 49वीं गाथा के ‘अलिंगग्रहण’ का गूढ़ अर्थ समझकर आनन्दित हो सकते हैं ।

प्राचीनकाल में सभी विद्वज्जन स्व-पर-मत के विविध ग्रन्थों का अध्ययन करते थे, परन्तु आज लोग समय होते हुए भी थोड़ा भाषा, व्याकरण, काव्यशास्त्र, न्यायशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि का ज्ञानार्जन नहीं करते, अन्यथा उन्हें शास्त्रों के रहस्य समझने में बड़ी सुविधा हो । उदाहरणार्थ जो शब्दब्रह्म को नहीं जानता, वह परब्रह्म को कैसे जानेगा—

“शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति ।”

शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति ही परंब्रह्म को जान पाता है, क्योंकि—

“शब्दब्रह्म परब्रह्म के, वाचक-वाच्य नियोग ।”

—पं. जयचंद छाबड़ा, समयसार-वचनिका

श्रोता के विद्वान होने की बात तो छोड़िये; आज तो हमारे लेखक एवं वक्तागण भी विद्वान नहीं दिखाई देते, जबकि शास्त्रों के लेखक एवं वक्ता को तो विविध शास्त्रों का बहुत बड़ा विद्वान होना ही चाहिए; जैसा कि आचार्य गुणभद्र ने लिखा है—

“प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः ।” —(आत्मानुशासन, 5)

अर्थात् वक्ता को प्राज्ञ (बड़ा विद्वान) होना चाहिए। उसे समस्त शास्त्रों का और सम्पूर्ण लोकव्यवहार का सुस्पष्ट ज्ञान होना चाहिए।

इसी प्रकार शब्दकोश का ज्ञान भी जैन शास्त्रों के जिज्ञासु को बहुत होना चाहिए—

“कोषस्येव महीपानां कोशस्य विदुषामपि ।

उपयोगो महान् यस्मात् क्लेशस्तेन विना भवेत् ॥”

राजाओं को ‘कोष’ (धन का भण्डार) और विद्वानों को ‘कोश’ (शब्द/ज्ञान का भण्डार) की बड़ी उपयोगिता होती है, अन्यथा उन्हें बड़ा क्लेश होता है।

“बिना व्याकरणेअन्धः मूक स्तर्कविवर्जितः ।

अलंकारं बिना पंगुः बधिरः कोशवर्जिताः॥”

व्याकरण के बिना व्यक्ति अन्धा है, तर्क के बिना मूक (गूंगा) है, अलंकारशास्त्र के बिना पंगु है और कोश के बिना बधिर है।

‘वृहद्द्रव्यसंग्रह’ के टीकाकार श्री ब्रह्मदेवसूरि ने शास्त्रों के प्रत्येक कथन का अर्थ 5 प्रकार से समझने का निर्देश दिया है— शब्दार्थ, मतार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, भावार्थ। विचारणीय है कि भाषा, दर्शन, अध्यात्म आदि विविध विषयों का विद्वान हुए बिना ऐसा कैसे किया जा सकेगा?

अतः विविध शास्त्रों के अभ्यास में प्रमाद करना ठीक नहीं। वक्ता और लेखक को तो वस्तुतः बहुश्रुत विद्वान होना बहुत आवश्यक है। अन्यथा उन पर आचार्य सिद्धसेन का यही कथन चरितार्थ होगा कि—

“दैवखातं च वदनं आत्मायतं च वाङ्मयम् ।

श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः॥”

—(सिद्धसेन-बत्तीसी)

अर्थात् उनका मुँह-मुँह नहीं है, दैव का गड़ढ़ा है; वे जो बोलें, वही उनके घर का शास्त्र है; दुनिया में श्रोता तो हर बात के लिए मिल ही जाते हैं; बस और चाहिए ही क्या? निर्लज्ज हो जाइए तो कौन पंडित नहीं है?

हमारा कहने का अभिप्राय इतना ही है कि हमें अपनी शक्ति-अनुसार न्याय, दर्शन, भाषा, व्याकरण आदि विविध शास्त्रों का भी ज्ञानार्जन अवश्य करना चाहिए; ताकि हमारे तत्त्वज्ञान में और अधिक निर्मलता उत्पन्न हो, साथ ही उसके प्रतिपादन में भी विशेष कुशलता हासिल हो।

हमारे सभी पूर्वचार्य ही नहीं, मध्यकालीन हिन्दी-लेखक पं. टोडरमलजी, जयचन्दजी छाबड़ा, दौलतरामजी, भागचन्दजी, संतलालजी आदि भी विविध विषयों के बहुत बड़े विद्वान् थे, जैसा कि उनकी कृतियों से स्पष्ट झलकता है। आश्चर्य होता है कि इतना ज्ञान होने पर भी ये विद्वज्जन ऐसा लिखते हैं कि हम तो मन्दबुद्धि और अल्पज्ञ हैं, शास्त्रों का व्यापक ज्ञान नहीं रखते हैं, सुधी पाठक हमें क्षमा करें। यथा—

श्रोता यदि विद्वान् होगा तो वक्ता को भी बड़ा लाभ होगा और उत्तम श्रोता-वक्ता की जोड़ी मिलकर महती धर्मप्रभावना कर सकेगी, जैसा कि हेमचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

“श्राद्धः श्रोता सुधीर्वक्ता युञ्जयेयातां यदीश! तत् ।
त्वच्छासनस्य साम्राज्यमेकच्छत्रं कलावपि ॥”

—वीतराग-स्तोत्र, 3

अर्थात् हे प्रभो! यदि श्रद्धालु व सुधी (विद्वान्) श्रोता-वक्ता का योग मिल जाए तो इस कलियुग में भी आपके शासन का एकछत्र साम्राज्य हो।

प्रतीत होता है कि आजकल जिनवचनों के सुधी विद्वान् श्रोता-वक्ता बहुत कम हो गये हैं, इसीलिए जैन धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है।

विद्वान् बनने के लिए प्रसिद्धि— नियमित रूप से रुचिपूर्वक ज्ञानार्जन करना चाहिए। यथा—

“श्लोकेन वां तदर्द्धेन पादेनैकाक्षरेण वा ।
अबन्ध्यं दिवसं कुर्यात् ज्ञानाध्ययनकर्मभिः ॥”

vFk& एक श्लोक, आधा श्लोक, चौथा सा श्लोक या उसका एक ही अक्षर सही, प्रतिदिन पढ़कर अपने दिन को बाँझ होने से बचाना चाहिए। ❖❖

आलस्यो मन्दबुद्धिश्च सुखिनो व्याधिपीडित ।

निद्रालुः कामुकश्चेति षडैते शास्त्रवर्जिताः॥

—सम्यक्त्वकौमुदी

vFk& आलसी, मन्दबुद्धि, सुखिया स्वभावी, व्याधिपीडित, निद्रालु और कामी— ये 6 लोग शास्त्रवर्जित हैं, शास्त्रों में प्रवेश नहीं कर सकते।

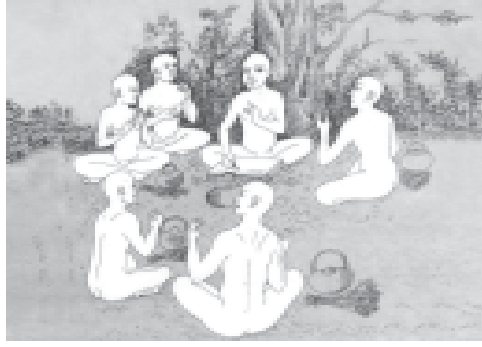
जैनाचार्यों का गणित-विज्ञान

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् (NCERT), नई दिल्ली द्वारा एक पुस्तक प्रकाशित हुई है— “प्राचीन भारतीय गणित की ऐतिहासिक व सांस्कृतिक झलकियाँ” (राधाचरण गुप्त एवं रामदुलार शुक्ल)। इस पुस्तक के अध्ययन से भी यह बात भलीभाँति सिद्ध/परिपुष्ट होती है कि जैनाचार्यों का गणित-विज्ञान अत्यन्त विकसित एवं सूक्ष्म था और उनका भारतीय गणित के विकास में अद्भुत योगदान रहा है। पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

1. “दिगम्बर जैन महावीराचार्य का नियम भारतीय गणित का एक बहुमूल्य मोती है। इसप्रकार महावीर का नियम बहुत व्यापक है।..... ‘गणितसार संग्रह’ में कुछ अन्य नियम भी हैं जिनके आविष्कार का श्रेय महावीराचार्य को है।”
—(पृष्ठ 66-68)
2. जैनग्रन्थों में बड़ी-बड़ी संख्याओं का विवेचन है। यहाँ हम उनमें से कुछ का उल्लेख करते हैं— (क) सूक्ष्म गणना के लिए 1 अंगुल को 8^{12} अवसन्नासन्न स्कंधों में विभाजित किया गया है। लेकिन एक अवसन्नासन्न स्कंध में समा जाने वाले परमाणुओं की संख्या अनन्त बताई गई है। (ख) अनुयोगद्वारा सूत्र नाम के जैन आगम, जो ईसवी सन् के आरम्भ से कुछ पहले लिखा गया, में संसार के जीवों की संख्या वह बताई गई है जो 2 से 96 बार विभाजित की जा सकती है अर्थात् जीवों की संख्या 2^{96} है। (ग) जैन ग्रन्थों में मिलने वाली एक अन्य बड़ी संख्या ‘शीर्ष प्रहेलिका’ नामक काल को सूचित करती है। (घ) जैनदर्शन के अनुसार काल का सूक्ष्मतम अंश (Quantum) ‘समय’ है, जिसका मान ग है।..... इसके मान का अंदाज ही केवल लगाया जा सकता है। वास्तविक मान जानना तो बेहद कठिन काम है।
—(पृष्ठ 38-39)
3. कुछ विद्वान् जैनाचार्य कुन्दकुन्द को दशमिक स्थान-मान प्रणाली का एक संभव आविष्कारक मानते हैं।”
—(पृष्ठ 35)
4. “महावीराचार्य ने अपने ‘गणितसारसंग्रह’ में 24 दशोत्तर संज्ञाएँ दी हैं। इसका कारण यह था कि वे जैन थे और जैनधर्म में तीर्थंकरों की संख्या चौबीस है। नाम इसप्रकार हैं— एक, दश, शत, सहस्र, दश सहस्र, लक्ष, दस

लक्ष, कोटि, दस कोटि, शतकोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, खर्व, महाखर्व, पद्म, महापद्म, क्षोणी, महाक्षोणी, शंख ($=10^8$), महाशंख, क्षिति, महाक्षिति, क्षोभ और महाक्षोभ ($=10^{23}$)।” —(पृष्ठ 31)

इसीप्रकार के और भी अनेकानेक कथनों के द्वारा NCERT की उक्त पुस्तक में स्थान-स्थान पर जैनाचार्यों के गणितीय योगदान की भूरि-भूरि सराहना की गई है। पृष्ठ-संख्या 67 पर दिगम्बर जैन मुनियों के आश्रम का एक चित्र भी प्रकाशित किया गया है, जो हू-ब-हू इस प्रकार है—



इसप्रकार हम स्पष्टतया देखते हैं कि जैनाचार्यों का गणित-विज्ञान अत्यन्त व्यापक, विकसित और सूक्ष्म था। दिगम्बर जैन महावीराचार्य के ही शब्दों में हम इस बात को इसप्रकार भी कह सकते हैं—

“बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन बिना न हि ॥”

—(गणितसारसंग्रह, 9/16)

vfk— बहुत कहने से क्या? इस सचराचर विश्व में जो कुछ भी वस्तु है वह सब गणित से ही है, गणित के बिना नहीं।

जैन गणित इसलिए भी सूक्ष्म है, क्योंकि वह मात्र लौकिक गणित नहीं है, अलौकिक गणित भी है। लौकिक गणित बहुत स्थूल होता है। उदाहरणार्थ—लौकिक गणित के हिसाब से मेरा यह पैना एक वस्तु माना जाता है, परन्तु अलौकिक गणित इसे एक वस्तु नहीं मानेगा, असंख्य परमाणुओं का स्कंध होने के कारण इसे असंख्य वस्तु मानेगा।

जैन गणित में संख्यात, असंख्यात और अनन्त की भी बहुत चर्चा आती है, जिनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

“जावदियं पच्चक्खं जुगवं सुदओहिकेवलाण हवे।
तावदियं संखेज्जमसंखमणंतं कमा जाणे ॥”

—(आचार्य नेमिचन्द्र, त्रिलोकसार, गाथा 52)

vfk— जितने विषयों को श्रुतज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, उसे संख्यात कहते हैं, जितने विषयों को अवधिज्ञान युगपत् जानता है उसे असंख्यात कहते हैं

तथा जितने विषयों को केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है उसे अनन्त कहते हैं।

जैन गणित की एक और भी विशेषता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक है, जैसाकि मैंने अपने एक अन्य निबन्ध ‘जैनदर्शन की व्यावहारिकता’ में निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

एक बार एक नगर में करणानुयोग के एक बहुत बड़े विद्वान् मुनि पधारे। नगर में उनके गणित-ज्ञान की अपार ख्याति से जल कर वहाँ का एक गणित विषय का शिक्षक उनसे शास्त्रार्थ करने पहुँच गया और बोला— “आज यह निश्चित हो ही जाना चाहिए कि इस नगर में बड़ा गणितज्ञ कौन है— आप या मैं? आप मुझसे शास्त्रार्थ (विवाद) कीजिए।”

मुनिराज— “वाद-विवाद से कषाय बढ़ती है, अतः उससे बचना चाहिए। रही बात बड़े गणितज्ञ की, सो चलो हमने स्वीकार कर लिया कि हम तो छोटे गणितज्ञ हैं; तुम ही बड़े गणितज्ञ सही।”

गणिताध्यापक— “नहीं, ऐसे नहीं चलेगा, आपको मुझसे शास्त्रार्थ ही करना होगा। तभी सही से निर्णय होगा।”

मुनिराज ने पास से मुट्ठी में रेत भरी और बोले— “अच्छा चलो, अभी तुम सिर्फ इतना बताओ कि इस मुट्ठी में कितने रेत के कण हैं?”

अभिमानी गणिताध्यापक इधर-उधर देखने लगा, उससे कोई भी उत्तर देते नहीं बना।

मुनिराज बोले— “अरे, इतना-सा भी नहीं बता पा रहे हो, शास्त्रार्थ क्या करोगे? ‘मुष्टि-प्रमाण’ बोलना चाहिए था न!”

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन गणित सूक्ष्म होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक होने से सरल-सुबोध भी है।

जैन वाङ्मय में गणित का महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है कि वहाँ सम्पूर्ण जिनवाणी को चार अनुयोगों में बाँटा गया है— प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। इनमें से करणानुयोग को ‘गणितानुयोग’ भी कहते हैं। जैनाचार्यों ने इसे दुनिया भर के दुर्धर्मानों से बचने का और धर्मध्यान में मन को एकाग्र रखने का सर्वोत्तम साधन कहा है। ❖❖

पंडित दौलतराम कासलीवाल द्वारा विरचित

प्रणव-स्तुति

पण्डित दौलतराम कासलीवाल हिन्दी-जैन-साहित्य के मूर्धन्य लेखक थे। जो विक्रम की 17-18वीं शताब्दी में बसवा (राजस्थान) में उत्पन्न हुए थे, परन्तु आगरा, जयपुर और उदयपुर— स्थानों पर लम्बे-लम्बे समय तक रहे थे। वे चहुँमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे एक साथ कुशल कवि, प्रौढ़ लेखक, सफल अनुवादक, प्रभावशाली वक्ता, प्रकाण्ड पण्डित, महान दार्शनिक और कर्मठ राजमंत्री थे। उन्होंने कुल मिलाकर 20 कृतियों का निर्माण किया है जो परिमाण एवं गुणवत्ता— दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी-जैन-साहित्य की अनमोल धरोहर हैं।

प्रस्तुत ‘प्रणव-स्तुति’ उनके एक विशाल काव्यग्रन्थ ‘अध्यात्मबारहखड़ी’ के मंगलाचरण से उद्धृत है। इसमें प्रणव अर्थात् ॐकार के स्वरूप एवं माहात्म्य का विशद वर्णन किया गया है।

भारतीय संस्कृति में ॐ को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। भारत के सभी धर्म या सम्प्रदाय एक स्वर से ॐ के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और उसके प्रति अपने हृदय में अपार श्रद्धा धारण करते हैं।

‘प्रणव-स्तुति’ के लेखक के अनुसार भी ॐ सबसे बड़ा मंत्र है, उससे बड़ा कोई मंत्र पृथ्वी पर नहीं है। ॐ सर्व मंत्रों का सार है, परम सरस है, भगवत्स्वरूप है, भगवान ही है, बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि भी ॐ का जाप करते हैं। ॐ के जाप बिना कदापि ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसप्रकार यह ‘प्रणव-स्तुति’ आद्योपान्त पठनीय और मननीय है; अतः यहाँ सर्वजन-हिताय अविकल रूप से प्रस्तुत है। यथा—

(श्लोक)

प्रणवं अनवं वंदे, यज्जिनेन्द्रैकशासनम् ।
सर्वाक्षरप्रजा यस्य, राजते श्रुतिवर्द्धिनी ॥ 1 ॥

(दोहा)

वंदौ श्रीभगवान् कौं, श्रीवल्लभ जा देव ।
श्रीधर श्रीपरिणति धरें, प्रणवरूप अतिभेव ॥ 2 ॥

(चौपाई)

प्रणवो प्राणद है प्रभू, राजै श्रुति की आदि ।
प्रणव समान न और है, भगवतरूप अनादि ॥ 3 ॥

ॐकार परमरसरूप । ॐकार सकल जग भूप ।
ॐकार अखिलमतसार । ॐकार निखिल तत धार ॥ 4 ॥

ॐकार सबै जप मूल । ॐकार भवोदधि कूल ।
ॐकार भई जगदीश । ॐकार सु अक्षर सीस ॥ 5 ॥

ॐ दरसी श्री भगवंत । ॐ परसी श्री अरहंत ।
ॐ ध्यातक श्रीपति स्वांमि । ॐ ज्ञायक अंतरजामि ॥ 6 ॥

ॐ भासक श्री जिनदेव । ॐ विथरित गणधरदेव ।
ॐकार जिनागमसार । ॐ धारण मुनिवर धार ॥ 7 ॥

ॐकार महा अघ नाश । ॐकार सकल श्रुतिभास ।
ॐ भेद न जानैं मूढ । ॐकार परमपद गूढ ॥ 8 ॥

ॐ सम को मंत्र जु नांही । पंच परमपद याके मांही ।
ॐ मंत्र जु भगवतरूपा । ॐ श्रुति समृति कौ भूपा ॥ 9 ॥

ॐ मृत्युकाल जे ध्यावै । ते ऊरध गति निश्चै पावै ।
ॐ ध्यावत प्राण जु तजहीं । ते सद्गति कौ साजजु सजहीं ॥ 10 ॥

ॐ अक्षर सीस विराजै । ॐमय जिनवरधुनि गाजै ।
इह एकाक्षर मंत्र जु भाई । मेदि जु भवधिति शिवह मिलाई ॥ 11 ॥

सकल त्यागि जे आशा पाशा । मोह त्यागि जे हौंहि निराशा ।
ते साधू याकौ तत पावैं । या बिनु जग जन जनम गुमावैं ॥ 12 ॥

सर्वग्रंथ के प्रथम जु प्रणवा । इह प्रणवा है तंज जु अनवा ।
महामुनीश्वर यामै लागै । याकौ पाय परमरस पागै ॥ 13 ॥

तीनवरणकरि प्रणव जु उपज्या । अवरण उवरण मुनि मिलि निपज्या ।
पंच इष्ट है याके मांही । इष्ट मंत्र या सम को नांही ॥ 14 ॥

करि कुंभक जिनि प्रणव जु ध्यायो। तिन निर्वाणपुरी पथ पायो।
 प्राणायाम जु तीन स्वरूपा। पूरक कुंभक रेचक रूपा ॥ 15 ॥
 ॐ श्वेतवर्ण जे नित ही। ध्यावै लव धरि चित नहिं कितही।
 ते पावैं निज शुद्ध स्वरूपा। ब्रह्म जीव है प्रणव अनूपा ॥ 16 ॥
 सुवरण वर्ण प्रणव जे ध्यावैं। स्तंभन हेतु सबै श्रुति गवैं।
 पवनचित्त ये दोऊ थंभै। दोऊ थंभि जु शिव उपलंभै ॥ 17 ॥
 रंग सुरंग सु ॐ मंत्रा। ध्याये होय वशीकृत तंत्रा।
 और न काहू कौ वसि करिवो। मनहि वसी करि निज में धरिवौ ॥ 18 ॥
 स्याम रंग इह प्रणव जु ध्यायो। शत्रु नाश कर जिनहि बतायो।
 जीव तणौ अरि कोइ न जीवा। रागादिक अरि हौंहि सदीवा ॥ 19 ॥
 रागादिक नाशन कै कारण। प्रणव स्याम कौ धारहि धारण।
 श्वेत ध्याय है शुक्ल जु भावा। शुक्ल जु ॐ शुक्ल उपावा ॥ 20 ॥
 ॐकार स्वरूप निरंजन। ॐकार सकल श्रुति रंजन।
 ॐकार निधान अनूपम। ॐकार प्रधान जगूपम ॥ 21 ॥
 ॐ वर्जित तंत्र न सोहे। ॐ वर्जित मंत्र न मोहे।
 ॐ वर्जित यंत्र न फुरही। ॐ विगरि न पातिग दुरही ॥ 22 ॥
 ॐ बिनु विद्या नहिं आवै। ॐ बिनु गुरु नाहि पढावै।
 ॐ बिनु व्याख्यान न करही। ॐ बिनु कहु धर्म न धरही ॥ 23 ॥
 ॐ बिनु वर्णाश्रम नांही। ॐ ध्यान निराश्रम मांही।
 बिंदुयुक्त ॐकारो ऋषिया। ध्यावैं मुनिवर निजतत लखिया ॥ 24 ॥
 ॐकार जु आगम सरवस। ॐकार करण शिवजग वस।
 ॐ अमृत और सुधा नहिं। इह जु सुधातर होय मुधा नहिं ॥ 25 ॥
 महा भाग इह अमृत चाखै। महाभाग इह निधि दृढ़ राखै।
 ॐकार सकल ऋषि साखै। ॐ नमि 'आनंदज' भाषै ॥ 26 ॥

इति प्रणवस्तुतिः ।।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की सबसे बड़ी विशेषता

स्याद्वादरूप जिनवाणी को समझना आसान कार्य नहीं है। उस पर भी उसे दूसरों को समझाना —यह तो और भी अधिक कुशलता की अपेक्षा रखता है, क्योंकि इस कार्य में संतुलन बनाये रखने की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है जो बड़ा ही कठिन कार्य है। इसमें कभी-कभी तो बड़े-बड़े विद्वान् भी स्खलित हो जाते हैं।

स्याद्वादरूप जिनवाणी में सभी कथन सापेक्ष होते हैं। उनकी अपेक्षा समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होता है। उसके बिना अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

जिनवाणी में अनेक कथन तो परस्पर विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में उन दोनों विरोधी कथनों को भलीभाँति समझ लेना और समझा देना —दोनों ही कार्य अत्यधिक सावधानी और संतुलन की अपेक्षा रखते हैं।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलकृत ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वहाँ सर्वत्र इस संतुलन को बनाए रखने का कठिन कार्य अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पन्न होता दिखाई देता है और इसीलिए उसे पढ़ते समय पाठक की सारी उलझनें सहजतापूर्वक सुलझती जाती हैं।

इस ग्रन्थ में जान-बूझकर साधक जीवन की उलझनों को ढूँढ-ढूँढकर उठाया गया है और फिर उनकी समीचीन अपेक्षा बताते हुए उनका अमृतोपम समाधान प्रस्तुत किया गया है। ऐसा लगता है— मानो यह पूरा ही ग्रन्थ उलझनों को सुलझाने के लिए समर्पित हो गया है।

वस्तुतः जिनवाणी की शैली दो प्रकार की होती है— 1. आगमरूप और 2. अध्यात्मरूप। ये दोनों शैलियाँ यद्यपि एक-दूसरे की पूरक हैं तथापि सामान्य पाठक को अत्यन्त विरोधी प्रतीत होती हैं और वह इनमें बुरी तरह उलझ जाता है।

इसीप्रकार जिनवाणी में दो नयों से कथन किये गये हैं— (1) निश्चय नय से और (2) व्यवहार नय से। इनमें भी सामान्य पाठक को बड़ा भारी विरोध प्रतीत होता है और वह बड़ी उलझन में पड़ जाता है, अपनी उलझन को कैसे भी सुलझा नहीं पाता।

इसी प्रकार के और भी कुछ कारण हैं जिनसे जिनवाणी में सामान्य पाठक को यत्र-तत्र विरोध प्रतीत होता है और वह उलझन में, द्वन्द्व में उलझ जाता है।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ ऐसी समस्त उलझनों को स्वयं उठा-उठाकर उनका समुचित व सन्तुलित समाधान प्रस्तुत करता है और यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

मैं समझता हूँ कि इसी विशेषता के कारण ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ को एक कालजयी कृति और उसके लेखक पं. टोडरमलजी को ‘आचार्यकल्प’ के विरुद्ध से विभूषित किया जाता है।

प्रस्तुत आलेख में ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की इसी विशेषता को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिए उसके कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकरणों की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। यथा—

1. अरिहंतादिक से लौकिक प्रयोजन-सिद्धि-

कुछ लोग कहते हैं कि अरिहंतादिक के स्तवनादि से कोई लौकिक प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती और कुछ लोग लौकिक प्रयोजन के लिए ही अरिहंतादिक के स्तवनादि में प्रवृत्त होते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशककार पं. टोडरमलजी ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त संतुलित एवं तार्किक शैली से विस्तारपूर्वक यह स्पष्ट किया है कि अरिहंतादिक से लौकिक प्रयोजन-सिद्धि तो अवश्य होती है, नहीं होती हो— ऐसी बात नहीं है, किन्तु हमें लौकिक प्रयोजन-सिद्धि के लिए अरिहंतादिक के स्तवनादि में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ का यह पूरा ही प्रकरण अत्यन्त रोचक एवं ध्यानपूर्वक पठनीय है, यहाँ उसे विस्तारभय से पूरा उद्धृत नहीं किया जा सकता, तथापि इस विषय की कतिपय महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं—

“जो अरहंतादि के प्रति स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होते हैं उनमें अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और यदि वे परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पाप प्रकृतियों का बन्ध हुआ था उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है और उस पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। —इस प्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है। अथवा जिनशासन के भक्त देवादिक हैं वे उस भक्त पुरुष को अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं। —इस प्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है। परन्तु इस प्रयोजन से

कुछ भी अपना हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषायभावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय के बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है। तथा कषाय है सो सर्व आकुलतामय है, इसलिए इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना यह भ्रम है।.....

पुनश्च, इस प्रयोजन के हेतु अरहंतादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबंध ही होता है, इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहंतादिक की भक्ति करने से ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होते हैं।” (पृष्ठ 7)

वाह, कितना सन्तुलित प्रतिपादन है!

2. व्यंतरादि का स्वरूप-

भूत-प्रेत-व्यन्तरादि के संबंध में कुछ लोग कहते हैं कि वे होते ही नहीं, कुछ कहते हैं कि वे होते तो हैं पर किसी का भी कुछ भी नहीं करते, कर ही नहीं सकते और कुछ कहते हैं कि वे होते भी हैं और किसी का भी कुछ भी कर सकते हैं अतः उनको पूजादि द्वारा प्रसन्न रखना चाहिए।

मोक्षमार्गप्रकाशककार पं. टोडरमलजी ने उक्त सभी मान्यताओं का खण्डन करते हुए इस संबंध में भी अत्यन्त संतुलित शैली से आगमानुकूल कथन प्रस्तुत किया है। कहा है कि व्यंतरादि होते अवश्य हैं और कदाचित् कथंचित् जीवों का भला-बुरा भी करते हैं परन्तु उनकी पूजादि करने से समस्या का समाधान नहीं होता।

उनका यह प्रकरण भी पूरा ही मूलतः पठनीय है जो पृष्ठ 169 से 173 तक तथा अन्यत्र भी तीन-चार स्थानों पर पाया जाता है परन्तु फिर भी इस विषय की कुछ पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं—

1. “जिनशासन के भक्त देवादिक हैं वे उस भक्त पुरुष को अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं।” (पृष्ठ 7)
2. “कोई देवादिक किसी धर्मात्मा की सहाय करते हैं अथवा किसी अधर्मी को दण्ड देते हैं।” (पृष्ठ 9)
3. “व्यंतरादिक देव कषायों से नगर-नाशादि कार्य करते हैं।” (पृष्ठ 276)

3. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की स्वीकृति-

जैनदर्शन के अकर्तावाद सिद्धान्त को समझते समय अथवा दो द्रव्यों के बीच

कर्ता-कर्म सम्बन्ध का निषेध करते समय प्रायः यह भूल हो जाती है कि उनमें जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसका भी निषेध समझ लिया जाता है और जब उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझाया जाता है तो लोग उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध ही समझ लेते हैं। यह एक बड़ी भारी समस्या है जिसमें बड़े-बड़े पाठक भी उलझे रहते हैं और इसी के कारण लोगों को अध्यात्मशास्त्र और निमित्तशास्त्रों का सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता है, वे बड़े ही असमंजस में पड़े रहते हैं।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ का एक-एक वाक्य इस विषय में भी अत्यन्त संतुलित एवं आगमानुकूल है। वहाँ दो द्रव्यों के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों को समझाते समय कर्ता-कर्म सम्बन्ध न मानने की चेतावनी दी गई है और कर्ता-कर्म सम्बन्ध का निषेध करते समय उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की स्वीकृति भी कराई गई है। उदाहरणार्थ ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाले अनेक कथन यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु यहाँ अवकाश नहीं है। तथापि कतिपय महत्वपूर्ण वाक्य ध्यानपूर्वक द्रष्टव्य हैं—

“लोक में निमित्त-नैमित्तिक बहुत ही बन रहे हैं। जैसे मंत्रनिमित्त से जलादिक में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में सर्पादि रोकने की शक्ति होती है उसी प्रकार जीवभाव के निमित्त से, पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है।” (पृष्ठ 29)

“द्रव्य इन्द्रिय तथा मनरूप परमाणुओं के परिणमन को और मतिज्ञान को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ज्ञान को और बाह्य द्रव्यों को भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। भूतादिक के निमित्त से नहीं जानना, थोड़ा जानना या अन्यथा जानना होता है। (पृष्ठ 33)

4. ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्रों की स्वीकृति-

कर्ता-कर्म और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों का समीचीन ज्ञान न होने के कारण ही बहुत-से स्वाध्यायी लोग भी ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्रों के सम्बन्ध में बड़ी अज्ञानता भरी बातें करते देखे जाते हैं। इतना ही नहीं, अनेक लोग तो ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्रों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते हैं।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में इस विषय में भी बड़ा ही संतुलित एवं आगमानुकूल दृष्टिकोण अपनाया गया है। वहाँ इन सर्व शास्त्रों के यथावत् ‘अन्यूनमनतिरिक्त’ स्वरूप की स्वीकृति एवं प्रस्तुति की गई है। मोक्षमार्गप्रकाशककार का स्पष्ट मानना है कि जिनागम में अनेक निमित्तशास्त्रों का भी ज्ञान कराया गया है और हमें उनका स्वरूप एवं प्रयोजन समझना चाहिए। यथा—

“तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोशादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि

शास्त्र भी जिनमत में पाये जाते हैं। उनका क्या प्रयोजन है सो सुनो।” (पृष्ठ 287)

काश, पं. टोडरमलजी जीवित रहते और हमें इन निमित्तशास्त्रों का स्वरूप एवं प्रयोजन और अधिक विस्तार से समझाते!

बहरहाल, इस विषय की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

1- T; kfr" k' kL= & “ग्रहादिक स्वयमेव गमनादिक करते हैं, और प्राणी के यथासम्भव योग को प्राप्त होने पर सुख-दुःख होने के आगामी ज्ञान को कारण होते हैं।” (पृष्ठ 173)

2- e= 'kL= & “जैसे मंत्रनिमित्त से जलादिक में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में सर्पादि रोकने की शक्ति होती है, उसी प्रकार जीवभाव के निमित्त से पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है।” (पृष्ठ 29)

“इतना है कि मंत्रादिक की अचिन्त्य शक्ति है सो किसी सच्चे मन्त्र के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो तो उसके किंचित् गमनादिक नहीं हो सकते व किंचित् दुःख उत्पन्न होता है व कोई प्रबल उसे मना करे तब रह जाता है व आप ही रह जाता है, इत्यादि मन्त्र की शक्ति है।” (पृष्ठ 171)

3- ; kx l k/ kuk & “वहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा रूप नासिका द्वार से पवन निकले वहाँ वर्णादिक भेदों से पवन ही की पृथ्वी तत्त्वादि रूप कल्पना करते हैं। उसके विज्ञान द्वारा किंचित् साधना से निमित्त का ज्ञान होता है। इसलिए जगत् को इष्ट-अनिष्ट बतलाते हैं।” (पृष्ठ 120)

“तथा ऐसे साधन से किंचित् अतीत-अनागतादिक का ज्ञान हो व वचनसिद्धि हो व पृथ्वी-आकाशादि में गमनादिक की शक्ति हो व शरीर में आरोग्यतादिक हो तो यह तो सर्व लौकिक कार्य है।” (पृष्ठ 122)

5. आगम और अध्यात्म की मैत्री-

जैन शास्त्र आगम और अध्यात्म —इन दो पद्धतियों की मुख्यता-गौणता के आधार पर दो प्रकार के देखे जाते हैं तथा उन दोनों की प्रतिपादन-शैली में भी कुछ अन्तर पाया जाता है, अतः बहुत-से लोग उसमें उलझ जाते हैं, उनको यथावत् समझकर उनकी सन्धि/मैत्री नहीं बैठा पाते। किन्तु मोक्षमार्गप्रकाशककार पं. टोडरमलजी तो स्याद्वाद-दृष्टि से इतने सम्पन्न हैं कि उन्हें इसमें कहीं कोई विरोध या उलझन नहीं दिखाई देती और इसीलिए वे आगम और अध्यात्म —दोनों की यथावत् उपयोगिता को समझने-समझाने में पूर्ण सफल हुए हैं।

इस बात का एक सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि उन्होंने चार अनुयोगों का विवेचन करते समय किसी को भी किंचित् भी कमजोर नहीं होने दिया और सभी

के महत्त्व का भलीभाँति प्रतिपादन किया।

दूसरा उदाहरण सातवें अधिकार का निश्चयाभासी-व्यवहाराभासी प्रकरण है जहाँ उन्होंने बड़ी ही कुशलतापूर्वक बारम्बार अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों के माध्यम से निश्चय और व्यवहार—इन दोनों नयों की उपयोगिता को ऐसा रेखांकित किया है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध, शास्त्रपठन करना चाहिए या नहीं, रागादि भाव आत्मा के हैं या नहीं, बाह्य संयम-तप धारण करना चाहिए या नहीं, प्रतिज्ञा ग्रहण करनी चाहिए या नहीं इत्यादि अनेकानेक विषय ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में ऐसे आये हैं जिनमें बड़े ही संतुलित और समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण के आगमवत् दर्शन होते हैं और यही इस ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की सबसे बड़ी विशेषता है। मैं तो आज भी उक्त विषयों के प्रतिपादन के समय अनेकानेक वक्ताओं को असंतुलित होकर स्खलित होते देखता हूँ और मुझे ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की बड़ी महिमा आती है। काश, हम लोग उससे आगम का प्राणभूत गुण ‘संतुलन’ सीखें। संतुलन भी ऊटपटांग नहीं, किन्तु समुचित, पूर्णतः आगमसम्मत।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ के समुचित संतुलन का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन यह है कि उसमें विद्वत्ता और अध्यात्मरसिकता का भी मणिकांचन योग समुपस्थित किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि जो लोग विद्वत्ता या पांडित्य में लग गये वे अध्यात्म को उपेक्षित कर देते हैं और जो लोग अध्यात्मरसिक बनते हैं, वे विविध शास्त्रों के ज्ञानार्जन को ही उपेक्षित कर बैठते हैं। परन्तु ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में कदम-कदम पर इस विषय को उठाया गया है और बड़े ही संतुलित ढंग से यह समझाया गया है कि न्याय-व्याकरण आदि विविध शास्त्रों का ज्ञानार्जन करना ही चाहिए, वह बहुत आवश्यक और उपयोगी है, उसके बिना यथावत् अर्थ भासित नहीं होता और जितना अधिक इनका जानना होगा, उतना ही तत्त्वज्ञान अधिक निर्मल होगा, किन्तु इनमें ही मत उलझे रह जाना अथवा अध्यात्मशास्त्रों की उपेक्षा मत कर देना।

इस सम्बन्ध में ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ के कतिपय महत्त्वपूर्ण वाक्य ध्यानपूर्वक द्रष्टव्य हैं—

1- “यदि उसके व्याकरण-न्यायादिक तथा बड़े-बड़े जैन शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो विशेष रूप से उसको वक्तापना शोभित हो। पुनश्च ऐसा भी हो, परन्तु अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो वह जिनधर्म का मर्म नहीं जानता।” (पृष्ठ 16)

2- “यदि उसे कुछ व्याकरण-न्यायादिक का तथा बड़े जैनशास्त्रों का ज्ञान हो तो श्रोतापना विशेष शोभा देता है। तथा ऐसा भी श्रोता हो किन्तु उसे आत्मज्ञान

न हुआ हो तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सके, इसलिए जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूप का आस्वादी है वह जिनधर्म के रहस्य का श्रोता है।” (पृष्ठ 18)

3- “सामान्य जानने से विशेष जानना बलवान है। ज्यों-ज्यों विशेष जानता है त्यों-त्यों वस्तुस्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है, रागादि घटते हैं इसलिए उस अभ्यास में प्रवर्तना योग्य है।” (पृष्ठ 294)

4- “तथा वह कहता है कि जिन शास्त्रों में अध्यात्म-उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रों के अभ्यास से कोई सिद्धि नहीं है। उससे कहते हैं— यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैनशास्त्र कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यतः अध्यात्म-शास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है सो सम्यग्दृष्टि होने पर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मन्दकषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिए। तथा आत्मस्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म-शास्त्रों का भी अभ्यास चाहिए; परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होना चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रों की अरुचि है उसे अध्यात्म की रुचि सच्ची नहीं है।” (पृष्ठ 200)

5- “अच्छा ज्ञान होने के अर्थ शब्द-न्यायशास्त्रादिक को भी जानना चाहिए। इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार सभी का थोड़ा या बहुत अभ्यास करना योग्य है।” (पृष्ठ 201)

6- “फिर वह कहता है— शास्त्र में ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है, इसलिए बहुत विकल्प किसलिए करें? उत्तर— जो जीव अन्य बहुत जानते हैं और प्रयोजनभूत को नहीं जानते अथवा जिनकी बहुत जानने की शक्ति नहीं, उन्हें यह उपदेश दिया है। तथा जिसकी बहुत जानने की शक्ति हो उससे तो यह नहीं कहा कि बहुत जानने से बुरा होगा? जितना बहुत जानेगा उतना प्रयोजनभूत जानना निर्मल होगा। क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है— ‘सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।’ इसका अर्थ यह है— सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है। विशेष से ही अच्छी तरह निर्णय होता है, इसलिए विशेष जानना योग्य है।” (पृष्ठ 202)

7- “उनके (व्याकरण, न्याय, काव्यशास्त्र के) अभ्यास के बिना महान् ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं है, इसलिए उनका भी अभ्यास करना योग्य है।” (पृष्ठ 231)

आशा है कि उक्त सभी कथनों को पढ़कर हमें ‘प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः’ की भावना के अनुरूप विविध शास्त्रों के विद्वान् बनने की प्रेरणा भी प्राप्त होगी और साथ ही अध्यात्मरस से भी हमारा जीवन ओत-प्रोत बनेगा। विविध शास्त्रों की भी अन्तिम परिणति तो आखिर अध्यात्म में ही होती है न!

अन्त में, मैं अपनी बात को आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के ही निम्नलिखित

कथन के साथ पूर्ण करना चाहता हूँ, क्योंकि उनके अद्भुत संतुलन का राज़ इसी में छुपा हुआ है—

“सर्व जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है और ‘स्यात्’ पद का अर्थ कथंचित् है, इसलिए जो उपदेश हो उसे सर्वथा नहीं जान लेना। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन सहित है, किस जीव को कार्यकारी है— इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे. इसप्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है।”

(पृष्ठ 301)



‘छहढाला’ में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी

कविवर पं. दौलतराम कृत ‘छहढाला’ में ‘गागर में सागर’ भरा है— इसकी एक और मिसाल देखिए—

“तातैं दुखहारी सुखकारि। कहैं सीख गुरु करुणाधरि।
ताहि सुनो भवि मन थिर आन। जो चाहो अपनो कल्याण ॥”

—प्रथम ढाल, छन्द 2

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो ‘छहढाला’ की इन दो पंक्तियों में कवि ने सारा शिक्षाशास्त्र भर दिया है।

शिक्षाशास्त्र यद्यपि एक बड़ा विस्तृत एवं महत्वपूर्ण विषय है, जिसके अन्तर्गत विश्व के बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्रियों के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का व्यापक एवं गहन अध्ययन कराया जाता है, तथापि यदि साररूप में देखा जाए तो इस विषय के अन्तर्गत मुख्यतः तीन ही विषय विचारणीय होते हैं— 1. शिक्षा, 2. शिक्षक, 3. शिक्षार्थी। समूचे शिक्षाशास्त्र के मूलाधारभूत तत्त्व ये तीन ही हैं। इन्हीं तीनों के स्वरूप की गहन मीमांसा शिक्षाशास्त्र में होती है। जिसने इन तीन को अच्छी तरह समझ लिया, उसने सारा शिक्षाशास्त्र समझ लिया।

कविवर पं. दौलतराम जी ने ‘छहढाला’ की उक्त दो पंक्तियों में शिक्षाशास्त्र के उक्त तीनों विषयों का सारग्राही स्वरूप प्रस्तुत करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। यथा—

1- शिक्षा के विषय में कविवर का कहना है कि शिक्षा वही है जो शिक्षार्थी के सर्व दुःखों को दूर कर दे और उसे सुख-शान्ति प्रदान करे। जिससे ऐसा न हो सके, वह शिक्षा नहीं है। शिक्षा नियम से दुःखहारी सुखकारी होनी चाहिए। खेद है कि आजकल ऐसी शिक्षा महा दुर्लभ हो गई है।

2- शिक्षक के विषय में कविवर का कहना है कि वह ‘करुणाधारी’ होना चाहिए अर्थात् उसके हृदय में **करुणा** होनी चाहिए। इसके बिना कोई सच्चा/अच्छा शिक्षक नहीं हो सकता। जिसके हृदय में शिक्षार्थी के हित की प्रबल करुणा हो, वही सफल शिक्षक हो सकता है। ‘करुणा’ शिक्षक

का एक ऐसा मूलभूत या केन्द्रीय गुण है जिसके बिना अन्य सारे गुण व्यर्थ हैं तथा जिसके होने पर अन्य सारे आवश्यक गुण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

3- शिक्षार्थी के सम्बन्ध में कविवर का कहना है कि उसे भव्य (पात्र) होना चाहिए और उसे मन से, एकाग्र मन से सुननेवाला होना चाहिए। बस, इन्हीं दो बातों में शिक्षार्थी के समस्त गुण समाहित हो जाते हैं; क्योंकि अभव्य (अपात्र) को शिक्षा दी नहीं जा सकती और मन से न सुननेवाला शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल दो पंक्तियों में कवि ने बड़ी ही कुशलता के साथ सम्पूर्ण शिक्षाशास्त्र को सार रूप में प्रस्तुत करने की अद्भुत कला प्रदर्शित की है।

शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी की ऐसी उत्कृष्ट, निर्दोष, संक्षिप्त (सारग्राही) और फिर भी सरल-सुबोध व्याख्या अन्यत्र मिलना मुश्किल है।

संसार के प्रत्येक शिक्षक और शिक्षार्थी को इन पंक्तियों का मर्म समझना चाहिए। ये पंक्तियाँ गम्भीर चिन्तन-मनन की अपेक्षा रखती हैं। ❖❖

जनाः धनाश्च वाचालाः सुलभास्सुयोद्धिताः।

दुर्लभान्तराद्रा स्युः जगदभ्युदय जिहीर्षवः॥

—आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन 4

ऐसे जन और धन तो सुलभ हैं जो व्यर्थ उठकर वाचाल होते हैं, किन्तु ऐसे जन और धन दुर्लभ हैं जो जगत-कल्याण की कामना से अन्दर में भीगे हुए हैं।

वित्तरागी से वीतरागी बनने की अद्भुत कला सिखाने वाला शास्त्र

जैन अर्थशास्त्र (Jain Economics)

जैन आचार्यों की यह बड़ी विशेषता है कि उन्होंने केवल धर्म, दर्शन या अध्यात्म के विषय में ही अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं, अपितु जीवन के हर पक्ष पर ही अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। यहाँ उनके अर्थशास्त्रीय विचारों को समझने के लिए जैन शास्त्रों से कतिपय प्रमुख उद्धरण संकलित करते हैं। आशा है कोई सुधी विद्वान् इनको विस्तृत एवं व्यवस्थित करेगा। इन उद्धरणों को ध्यान से पढ़कर कोई भी व्यक्ति आसानी से यह जान सकता है कि जैन आचार्यों ने, धन किसे कहते हैं, धन के पर्यायवाची शब्द क्या हैं, धन के कितने प्रकार हैं, धन का जीवन में कितना महत्त्व है, धन कितना असार है, धन की प्राप्ति कैसे होती है, धन की रक्षा कैसे होती है, धन का दुरुपयोग क्या है, धन का सदुपयोग क्या है, इत्यादि सभी पक्षों पर अपने अद्भुत विचार प्रकट किये हैं। इनको समझकर व्यक्ति अपना लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों ही प्रकार का जीवन सुखद बना सकता है।

1. अत्थं अणत्थमूलं। —भगवती आराधना, 1808
2. लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स द्यअकए वि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स। —भगवती आराधना, 1436
3. धर्मादयो हि हितहेतुतया प्रसिद्धा..... —अमृताशीति, 3
4. भ्रात प्रभात समये त्वरित किमर्थमर्थाय चेत.... —अमृताशीति, 4
5. आयव्ययमुखयोर्मुनिकमंडलुरेव निदर्शनम्। —नीतिवाक्यामृत, 18/6
6. अलियं कमले कमला कयकमले तुह जिणिंद सा वसदि.....
—आचार्य पद्मनंदी, ऋषभस्तोत्र 46
7. कौआ भी बाँट कर खाता है..... —आचार्य पद्मनंदी, दानोपदेशन, 46
8. मुमुक्षु को लक्ष्मीवन्तों से सम्पर्क नहीं रखना चाहिए।
—आचार्य पद्मनंदी, परमार्थविंशति 8
9. दुरर्जयेनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना। स्वस्थंमन्यरु जनरु कोपि ज्वरवानिव सर्पिषा।। —इष्टोपदेश, 13

10. त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तरु संचिनोति यरु। स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति।। —इष्टोपदेश, 16
11. आयुर्वृद्धिनोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्। वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्।। —इष्टोपदेश, 15
12. दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तुनामप्यरुन्तुदम्यअत्यन्तं मरणं प्राणैरु प्राणिनां हि दरिद्रता। —क्षत्रचूडामणि, 3/6
13. रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोखिलो गुणरु।..... —क्षत्रचूडामणि, 3/7
14. लोभ—निंदा। —ज्ञानार्णव, 70-71
15. धन की अनित्यता, असारता। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा
16. न चौतद्विद्यते किंचिद्यदर्थेन न सिद्ध्यति। यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत।। —मदनपराजय, 2/13
17. यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः। यस्याथारु सरु पुमान् लोके यस्याथारु स च जीवति।। —मदनपराजय, 2/14
18. इह लोकेपि धनिनां परोपि स्वजनायते। स्वजनोपि दरिद्राणां तत्क्षणाद् दुर्जनायते।। —मदनपराजय, 2/15
19. धन पाकर धर्म को नहीं भूलना चाहिए। —यशस्तिलकचम्पू 3/220-280
20. कृपण कृपाण के समान है। —यशस्तिलकचम्पू भाग 1, पृष्ठ 256
21. वृक्षों में भी परिग्रह संज्ञा है। —धवला 5/5/24
22. पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो। मइमोहेण य पावं तम्हा पुण्णं अम्ह मा होरु।। —परमात्मप्रकाश 2/60
23. लोभ तनाव का प्रमुख कारण है। —चरकसंहिता
24. जो धन लाभ लिलार लिख्यो.... —जैन शतक, 75

अर्थक्रास्त्रीय सूक्तियां

- अर्थातुराणां भयं न लज्जा / अर्थातुराणां गुरुर्न बन्धुः
- न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः / लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण परवेदनाम्
- विद्या विवादाय धनं मदाय,... / health is wealth-
- क्षणैरु कणैश्च लभ्यन्ते विद्यामर्थञ्च मानवाः। क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम्।।

अर्थशास्त्रीय दोहे-

- दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान। कहूँ न सुख संसार में, सब जग

देख्यो छान ॥

- पानी बाढ़ा नाव में, घर में बाढ़ा दाम। दोनों हाथ उलीचिए, यही सयाना काम ॥
- धन की गतियाँ तीन हैं, दान भोग और नाश। दान भोग यदि ना किया, निश्चय होय विनाश ॥
- बीज राखि फल भोगवै, ज्यों किसान जग मांहि। त्यों चक्री नृप सुख करे, धर्म विसारे नांहि ॥
- भौंदू धन हित अघ करे, अघतें धन नहीं होय द्य धर्म करत धन पाइए, मन माने कर सोय।
—द्यानतविलास, सुबोध-पंचाशिका, 41
- धन देकर तन राखिए, तन दे रखिए लाज। धन दे तन दे लाज दे, एक धर्म के काज ॥
- आमद थोड़ी खर्च घनेरा, यह लक्षण मिट जाने का। हिम्मत थोड़ी रोष घनेरा, यह लक्षण पिट जाने का ॥
- मीत न नीत गलीत है, जो चाहो धन जोरि। खाये खरचे जो जुरे, तो जोरिये करोर ॥
- सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूरब बात। ज्यों खर्चे त्यों त्यों बढ़े, बिन खरचे घट जात ॥

अर्थशास्त्रीय कहानियाँ-

- सुकुमाल सेठ (काबुल का कम्बल) / पांच दाने की कथा (क्षणशः कणशश्चैव. ..)
- सुनार की सलाह / सेठ छदामीलाल / मेरे स्पर्श से सब सोना हो जाए / छाया में आना छाया में जाना
- हीरे-मोती का बैल / भाई-पुत्रों को मारने का विचार आया (अहिदेव, महिदेव)



तीर्थंकर नेमिनाथ और नारायण श्रीकृष्ण

जैनधर्म के 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) और नारायण श्रीकृष्ण— इन दोनों की गणना भारतवर्ष के अतिविशिष्ट महापुरुषों में होती है। जैन एवं हिन्दू— दोनों ही धर्मों के ग्रन्थों में इन दोनों ही महापुरुषों की गाथा स्वर्णिम अक्षरों में लिखी मिलती है। आज हजारों वर्ष बीतने के बाद भी इन दोनों युगपुरुषों का सर्वत्र स्मरण किया जाता है।

श्रीकृष्ण और नेमिनाथ दोनों ही समकालीन थे। न केवल समकालीन थे, बल्कि निकट के रिश्तेदार भी थे। श्रीकृष्ण नेमिनाथ के चचेरे भाई लगते थे। श्रीकृष्ण के पिता का नाम वसुदेव था और नेमिनाथ के पिता का नाम समुद्रविजय। इसप्रकार ये दोनों भाई-भाई थे, किन्तु इनके स्वभाव में अन्तर था।

श्रीकृष्ण राग-रंग के प्रेमी थे, किन्तु नेमिनाथ अत्यन्त वैराग्य प्रकृति के थे नेमिनाथ को सांसारिक विषय-भोगों में उन्हें कोई रस नहीं था। और वे सदा आत्मध्यान के प्रयत्न में लगे रहते थे।

श्रीकृष्ण ने ही कोई योजना बनाकर उन्हें विवाह हेतु तैयार किया था और उनकी सगाई भी जूनागढ़ की राजकुमारी राजुल या राजीमति से हो गई थी परन्तु विधि का विधान तो कुछ और ही था, अतः यह शादी नहीं हो सकी और नेमिनाथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिदीक्षा धारण कर गिरिनार पर्वत (गुजरात) पर ध्यानारूढ़ हो गये।

श्रीकृष्ण को नेमिनाथ से विशेष प्रेम था, वे उनका बहुत आदर भी करते थे, अतः वे मुनि बन चुके नेमिनाथ के भी दर्शन करने गये। नेमिनाथ ने उन्हें भी निवृत्तिमार्ग पर चलने का वैराग्यमय उपदेश दिया। नेमिनाथ के पास मयूरपिच्छी थी जो जैन साधुओं का अनिवार्य उपकरण होता है। उन्होंने उस पिच्छी से श्रीकृष्ण को जो आशीर्वाद दिया वह श्रीकृष्ण को इतना प्रिय लगा कि उसकी स्मृतिस्वरूप उन्होंने हमेशा के लिए ही अपने मुकुट में मोरपंख धारण करना प्रारम्भ कर दिया, वे मोरमुकुट ही कहलाने लग गये।

नेमिनाथ की वाग्दत्ता राजुल या राजीमती का चरित्र भी दमकते हुए स्वर्ण-

समान है जो पूरी नारी-जाति को गौरव के सिंहासन पर विराजमान करता है। वैदिक साहित्य में जैसा स्थान राधा और श्रीकृष्ण का है वैसा ही स्थान जैन साहित्य में राजीमति और अरिष्टनेमि का है। कवियों ने इन दोनों पर प्रभूत काव्य लिखा है। हाँ, इतना अवश्य है कि राजीमति के समक्ष किसी भी प्रकार की भौतिक वासना को स्थान नहीं है, अतः वह नेमिनाथ के सदृश निवृत्तिमार्ग को अंगीकार कर लेती है।

नेमिनाथ वीतराग-सर्वज्ञ होकर तीर्थंकर बन जाते हैं, श्रीकृष्ण उन्हें आराध्य के रूप में अपने हृदय में विराजमान कर लेते हैं। जैन पुराणों के अनुसार श्रीकृष्ण भी अगले जन्म में वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर का पद प्राप्त करेंगे।

नेमिनाथ राजकुमार अवस्था में भी अत्यन्त अहिंसाप्रिय थे। श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध का वध हो जाने पर जरासन्ध की सेना के सभी राजा नेमिनाथ के पास पहुँचे। तब सभी राजाओं को साथ लेकर अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के पास आये। श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि का हृदय से स्वागत किया और दोनों परस्पर प्रेमपूर्वक मिले। अरिष्टनेमि के कहने से तथा समुद्रविजयजी की आज्ञा से श्रीकृष्ण ने उन राजाओं का तथा जरासन्ध के बचे हुए पुत्रों का सत्कार किया। जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध देश के चतुर्थ भाग का राजा बनाया। समुद्रविजयजी के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का राज्य दिया। हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कौशल देश का राज्य दिया। उग्रसेन के 'धर' नामक पुत्र को मथुरा का राज्य दिया। अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातली नामक सारथी भी रथ को लेकर भाक्रेन्द्र के पास चला गया। अन्य राजागण भी अपनी छावनी में चले गये। इस घटना से भी नेमिनाथ का दयालु स्वभाव प्रकट होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि नेमिनाथ और श्रीकृष्ण दोनों ही भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ हैं। दोनों ने ही मोरपिच्छ का आश्रय लेकर अहिंसा और प्रेम का सन्देश जन-जन तक पहुँचाया। दोनों ने ही अध्यात्मविद्या को भी बहुत बढ़ावा दिया, अतः इनके स्मरण से हम सबको अहिंसा और अध्यात्म की शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। ❖❖

गोम्मटसार छन्दोदय

अभी तक आपने किसी मन्दिर आदि के जीर्णोद्धार के समाचार तो सुने होंगे, पर आज मैं आपको एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के जीर्णोद्धार का शुभ समाचार सुना रहा हूँ। जी हाँ, यह ग्रन्थ है— गोम्मटसार छन्दोदय, जो आज तक सर्वथा अज्ञात था और अभी-अभी भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता हैं— दौलतराम वर्णी और इसके जीर्णोद्धारकर्ता हैं— श्री सुरेश जैन, आई. ए.एस., भोपाल एवं पं. प्रमोद जैन, जयपुर।

दरअसल हिंदी-साहित्य के इतिहास में ‘दौलतराम’ नाम के अनेक विद्वान् हो चुके हैं, जिनमें से नौ दौलतरामों का परिचय मैं अपने पी.एच.डी. के शोध-प्रबंध में लिख चुका हूँ; किन्तु उनमें से दो दौलतराम ही जैन समाज में अधिक लोकप्रिय हैं— एक तो ‘छहढाला’ वाले दौलतरामजी और दूसरे ‘पद्मपुराण-भाषावचनिका’ वाले दौलतरामजी।

किन्तु इन दो दौलतरामों के अतिरिक्त एक तीसरे दौलतराम और भी हैं जिनका जैन-साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान माना जाना चाहिए। इन्हें दौलतराम वर्णी या बाबा दौलतराम वर्णी के नाम से जाना जाता है। इनका समय विक्रम की उन्नीसवीं सदी है। साहित्य-जगत में इनकी चार-पांच लघु कृतियाँ ही विशेष ज्ञात रही हैं— नैनागिरी-पूजा, चम्पापुर-पूजा, पावापुर-पूजा, ग्यारह प्रतिमा आदि; किन्तु अब श्री सुरेश जैन आई.ए.एस., भोपाल ने, जो कि इस समय नैनागिरि तीर्थक्षेत्र (मध्य प्रदेश) के अध्यक्ष भी हैं, बहुत अधिक शोध-खोज करके उनकी एक और विशाल कृति ‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ को खोज निकाला है। न केवल खोज निकाला है, अपितु जैनदर्शन के उद्भट विद्वान् पं. प्रमोद जैन, जयपुर से उसका व्यवस्थित सम्पादन भी कराया है और फिर उसे भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से स्तरीय ढंग से प्रकाशित भी करा दिया है। इसप्रकार एक महान ग्रन्थ के जीर्णोद्धार का शुभ कार्य अभी-अभी सम्पन्न हुआ है, जिसकी सूचना आप सबको देते हुए मुझे बहुत हर्ष हो रहा है।

‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ नामक इस कृति की रचना आज से लगभग 116 वर्ष

पूर्व अश्विन शुक्ला चतुर्थी विक्रम संवत् 1959 अर्थात् दि. 6 सितम्बर सन् 1902 ई. को पूर्ण हुई थी, किन्तु साहित्य-जगत में यह कृति अद्यावधि अज्ञात ही थी।

बाबा दौलतराम वर्णी कृत इस ‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ में वस्तुतः आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती के विश्वविख्यात ग्रन्थ ‘गोम्मटसार’ का हिंदी-पद्यानुवाद किया गया है। ‘गोम्मटसार’ दो भागों में विभक्त है— जीवकांड और कर्मकांड, किन्तु प्रस्तुत ‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ में केवल जीवकांड का ही पद्यानुवाद है। हो सकता है कि कवि ने कर्मकांड का भी पद्यानुवाद किया हो और वह भी कहीं छुपा पड़ा हो, अतः उसकी की भी शोध जारी रहनी चाहिए।

‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ की प्रकृति वैसी ही है जैसी कि बनारसीदास कृत ‘समयसार नाटक’ की है अथवा वृंदावनदास कृत ‘प्रवचनसार-भाषा’ की है अथवा भैया भगवतीदास कृत ‘द्रव्यसंग्रह-पद्यानुवाद’ की है। इस प्रकार के प्रयोग पूर्व में अनेक हिन्दी-जैन कवियों ने किये हैं और इनका जैन-आगमों के संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार में बड़ा भारी योगदान माना जाता है। हिन्दी-जैन कवियों की ये रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से भी इतनी मधुर रही हैं कि सहज ही जन-जन का कंठहार बन गईं।

‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ नामक इस अद्भुत कृति का मूलाधार वस्तुतः अकेला ‘गोम्मटसार’ नहीं है, अपितु उसकी केशव वर्णी कृत संस्कृत-टीका ‘जीवतत्त्व-प्रदीपिका’ एवं पं. टोडरमल कृत हिंदी-टीका ‘सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका’ भी इसके मूलाधार रहे हैं और इन तीनों के आधार से ही इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है, जैसा कि प्रत्येक अधिकार की और सम्पूर्ण ग्रन्थ की भी अंतिम प्रशस्ति (पुष्पिका) में कवि ने स्वयं स्पष्ट लिखा है। यथा—

“इत्याचार्य श्रीनेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार, दुतीय नाम पंचसंग्रह, ताकी जीवतत्त्व-प्रदीपिका नाम संस्कृतटीका वा सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नाम भाषाटीका के अनुसार मूल गाथार्थ छन्दबद्ध छंदार्णव ग्रन्थ में विंशति प्ररुपणासु जीवकांड समाप्त भया।”

इसी बात को उन्होंने छन्दबद्ध रूप में भी बड़ी सरसता के साथ प्रस्तुत किया है। यथा—

“नेमिचंद्र आचार्य पुनि, मूल ग्रन्थ करतार ।
सो मंगल करतार हवै, हरहु अज्ञ अंधियार ॥
करणाटक वृत्ति अनुसार, केशव वर्णी भव्य विचार ।
संस्कृत टीक रची सुखदाय, टोडरमल लेय तसु छाया ॥
भाषा टीक करी मैं दोय, वृत्तिन मैं से अर्थहिं जोय ।
गाथा मूल अर्थ के सार, बांधे छन्द स्वमति अनुसार ॥

जैसो अर्थ जु टीका मांह, अरु जिस भांति समझ मो आंह ।
सो सब कहो न यंत्र तनेय, अरु संदृष्टिक छन्द रचेय ॥
जो हुअ छन्द अर्थ मंह भूल, शोधहु सुधी देख श्रुतमूल ।
गाथारथ अवधारण काज ,सुगम रीति कीनी हित साज ॥”

—अंतिम प्रशस्ति, छन्द 41 से 45

‘गोम्मटसार-छन्दोदय’ नामक यह कृति साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अभी उसकी चर्चा का अवकाश नहीं है। कुल मिलाकर यह कृति जैन साहित्य एवं दर्शन —दोनों की ही एक अनमोल धरोहर सिद्ध होती है और इसीलिए इसके जीर्णोद्धारकर्ता हार्दिक अभिनन्दन के पात्र हैं। ❖❖

‘कषायपाहुड’ का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य

ॐ/ॐ/ॐ d"kk; d: fo'k"l UnHk e%

जैसे-जैसे प्राकृत-वाङ्मय का अध्ययन-अनुसन्धान बढ़ रहा है, वैसे-वैसे एक यह तथ्य बड़ी गहराई से उभरकर हम सबके सामने आ रहा है कि प्राकृत-वाङ्मय ज्ञान-विज्ञान का अद्भुत अक्षय स्रोत है। उसमें केवल धर्म-दर्शन-अध्यात्म ही नहीं है अथवा मात्र लोकजीवन का काव्यात्मक चित्रण ही उसका उद्देश्य नहीं है, अपितु उसमें ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के बीज भी स्पष्टतः समाहित दृष्टिगोचर होते हैं जो परवर्ती साहित्य में विस्तारपूर्वक पल्लवित और पुष्पित हुए हैं। यथा— उसमें भौतिक विज्ञान भी है तो रसायन विज्ञान भी, समाज विज्ञान भी है तो राजनीति विज्ञान भी, अर्थशास्त्र है तो संगीतशास्त्र भी, जीवविज्ञान है तो मनोविज्ञान भी, आयुर्वेद है तो ज्योतिष भी, वास्तु है तो निमित्त भी, भूगोल है तो खगोल भी, इत्यादि।

इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारतीय वाङ्मय के विकास में प्राकृत-वाङ्मय का असाधारण योगदान है।

‘कषायपाहुड’ वस्तुतः एक ऐसा ही दार्शनिक ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान-विज्ञान की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। न केवल सामग्री पाई जाती है, अपितु यह भी कहा जा सकता है कि ‘कषायपाहुड’ ज्ञान-विज्ञान का एक ऐसा अद्भुत सन्दर्भ-ग्रन्थ है कि आज का बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी उससे प्रभावित हो जाए।

कषायपाहुड मनोविज्ञान का भी एक अद्भुत ग्रन्थ है। उसके जैसा मनोविकारों का परत-दर-परत विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। इतना ही नहीं, इसमें एक और विशिष्ट बात यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान में तो मात्र मानव के ही मनोविकारों का अध्ययन-विश्लेषण होता है, पर ‘कषायपाहुड’ में तो सूक्ष्मतम जीव-जन्तुओं के भी मनोविकारों का अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

‘कषायपाहुड’ प्राकृत भाषा में निबद्ध जैन-आगम का एक ऐसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसकी रचना आचार्य गुणधर स्वामी ने विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी में की

थी। मूलतः 180 गाथा-सूत्रों में निबद्ध इस आगम-ग्रन्थ पर दो बड़े ही महत्त्वपूर्ण कार्य भी उपलब्ध होते हैं— एक तो आचार्य यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र और दूसरे आचार्य वीरसेन-जिनसेन स्वामी की 60,000 लोकप्रमाण ‘जयधवला’ टीका।

‘कषायपाहुड’ मूलग्रन्थ वीर शासन संघ कलकत्ता से सन् 1955 में पं. हीरालाल जैन, शास्त्री न्यायतीर्थ के हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है और इसकी ‘जयधवला’ टीका अनेक बार जैन संघ चौरासी मथुरा से 16 भागों में प्रकाशित हुई है।

‘कषायपाहुड’ से परिचित होने के लिए ‘जयधवला’ से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ संक्षेप में जयधवला का परिचय कराने के लिए तीन पृष्ठ संलग्न किये जा रहे हैं, जिनसे एक दृष्टि में ही साधारण पाठक को ‘कषायपाहुड’ और ‘जयधवला’ का परिचय प्राप्त हो सकेगा—

1. जयधवला : एक दृष्टि में।
2. जयधवला की विषयवस्तु।
3. जयधवला का मंगलाचरण।

इनके अतिरिक्त मेरा एक अन्य विस्तृत लेख ‘जयधवला : एक अनुशीलन’ भी पढ़ने योग्य है।

जैसा कि इस ग्रन्थ के ‘कषायपाहुड’ नाम से ही ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में कषायों का विवेचन किया गया है। क्रोध, मान, माया, लोभ— ये चार कषाय हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ इन्हीं चार कषायों के सूक्ष्म विवेचन हेतु समर्पित है। क्रोधादि विकारी मनोभावों का ऐसा विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करने वाला दूसरा कोई ग्रन्थ समूचे भारतीय वाङ्मय में मिलना असंभव है। मनोवैज्ञानिकों और मनोचिकित्सकों को इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। इससे उन्हें अद्भुत लाभ होने की संभावना है।

‘कषायपाहुड’ वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ ही है। उसे दार्शनिक, धार्मिक या साहित्यिक ग्रन्थ कहने की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक कृति कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उसी से उसका प्रतिपाद्य विषय स्पष्टतया मुखर होता है।

यद्यपि इस ‘कषायपाहुड’ में उपर्युक्त चार कषायों का अत्यन्त विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विवेचन किया गया है, किन्तु हम यहाँ केवल क्रोध कषाय के ही सूक्ष्म विवेचन को दिखाने का प्रयत्न करना चाहते हैं, ताकि इस कषायपाहुड का मनोवैज्ञानिक पक्ष अधिक गहराई से समझ में आ सके।

क्रोध कषाय का विवेचन करने वाले मूल गाथासूत्र ‘कषायपाहुड’ में इस प्रकार हैं—

1. “णगपुढविबालुकोदयरार्ईसरिसो चउव्हिहो कोहो ।’

2. ‘कोहो य कोव रोसो य अक्खम-संजलन-कलह-वड्ढी य ।

झंझा दोस विवादो दस कोहेयट्ठिया होंति ॥’

इनका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है— क्रोध चार प्रकार का होता है— पाषाण-रेखा के समान, पृथ्वी-रेखा के समान, बालु-रेखा के समान और जल-रेखा के समान। क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, दोष और विवाद —ये दस क्रोध के एकार्थक शब्द हैं।

आश्चर्य की बात है कि यहाँ क्रोध के 10 एकार्थवाची शब्द कहे हैं, परन्तु टीका में इन्हें क्रोध के 10 रूपों के रूप में समझाते हुए इनमें पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर भी बताया गया है। उसे यहाँ विस्तारभय से लिखना संभव नहीं है, ‘जयधवला’ टीका से देखा जा सकता है।

इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ में क्रोध के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद भी समझाये गये हैं। क्रोध के भेदों को बोधगम्य बनाने के लिए भी अनेक अपेक्षाओं का आश्रय लिया गया है। यथा—

1. क्रोध दो प्रकार का है— द्रव्य क्रोध, भावक्रोध।
2. क्रोध अन्य दो प्रकार का भी है— जीव क्रोध, अजीव क्रोध।
3. क्रोध अन्य दो प्रकार का भी है— व्यक्त क्रोध, अव्यक्त क्रोध।
4. क्रोध अन्य दो प्रकार का भी है— तीव्र क्रोध, मन्द क्रोध।
5. क्रोध अन्य दो प्रकार का भी है— प्रेय क्रोध, द्वेष्य क्रोध।
6. क्रोध तीन प्रकार का है— जीव-निमित्तक, अजीव-निमित्तक, उभय-निमित्तक।
7. क्रोध चार प्रकार का है— अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन।
8. दृष्टान्त-भेद से क्रोध अन्य चार प्रकार का भी है— पाषाणरेखा-सदृश, पृथिवीरेखा-सदृश, बालुरेखा-सदृश, जलरेखा-सदृश।
9. क्रोध अन्य चार प्रकार का भी है— नामक्रोध, स्थापनाक्रोध, द्रव्यक्रोध, भावक्रोध।
10. लेश्या-भेद से क्रोध छह प्रकार का भी है— कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल।
11. क्रोध सात प्रकार का भी है—

इसी प्रकार और भी अनेक भेद क्रोध के हो सकते हैं, जिन्हें ग्रन्थकार ने और भी अनेक भंग बना-बनाकर समझाया है। जैसे समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध के 8 भंग इस प्रकार बनाकर बताये गये हैं—

1. **,d tho&** जिस मनुष्य के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा एक जीव क्रोध है।
2. **,d uktho&** जिस काठ, ईंट, पत्थर के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा एक नोजीव क्रोध है।
3. **vud tho&** जिस शत्रु सेना के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध है।
4. **vud uktho&** जिन चित्र, मूर्तियाँ, भवन के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध है।।
5. **,d tho] ,d uktho&** जिस तलवार सहित शत्रु को आता देखकर के इस निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध है।।
6. **,d tho] vud uktho&** शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित शत्रु को देखकर के इस निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध है।।
7. **vud tho] ,d uktho&** जिस एक रथ पर सवार/एक तोप को उठाकर आते हुए शत्रुदल को देखने से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध है।
8. **vud tho] vud uktho&** जिस नाना शस्त्रों से सहित सेना को देखने से क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिक कषाय की अपेक्षा क्रोध है।

इतना ही नहीं, इन भेदों को स्पष्टतः सिद्ध करने के लिए इस ग्रन्थ में तरह-तरह से अनेक शंकाएँ उठाकर समाधान भी प्रस्तुत करने के रोचक प्रयास किये गये हैं। यथा—

प्रश्न— जीव क्रोध रूप होता है— यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि जीव द्रव्य है और क्रोध पर्याय है, द्रव्य पर्याय कैसे हो सकता है?

उत्तर— द्रव्य अपनी पर्यायों से भिन्न नहीं पाया जाता है, अभिन्न ही रहता है, तन्मय ही रहता है।

प्रश्न— द्रव्य कर्म क्रोध का निमित्त है, क्रोध रूप नहीं। उसे क्रोध कैसे कहा?

उत्तर— कारण में कार्य का उपचार कर लेने से द्रव्य कर्म में क्रोध भाव की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में क्रोध के भेदों का जो विशाल संसार दिखाई देता है, वह हमें समूचे भारतीय वाङ्मय में अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

क्रोध के भेदों के अतिरिक्त ‘कषायपाहुड’ में यह भी विस्तारपूर्वक समझाया गया है कि किस-किस गति में किस-किस प्रकार का क्रोध होता है, किस-किस

इन्द्रियधारी जीव में किस-किस प्रकार का क्रोध होता है, किस-किस गुणस्थानवर्ती जीवों में किस-किस प्रकार का क्रोध होता है, किस-किस वेद में किस-किस प्रकार का क्रोध होता है, इत्यादि।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान की पद्धति को अपनाकर क्रोधभाव का सूक्ष्म विवेचन करने में वास्तव में ही 'कषायपाहुड' का कोई मुकाबला नहीं है।

इसी प्रकार सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व की शैली का अवलम्बन लेकर भी ग्रन्थकार ने क्रोधभाव का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी है।

कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में भी क्रोधभाव को बन्ध, सत्त्व, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्त, निकाचन—इन दस अवस्थाओं के माध्यम से स्पष्ट करने का गंभीर प्रयास किया है।

कहने का तात्पर्य है कि क्रोध क्या है, किसे उत्पन्न होता है, क्यों उत्पन्न होता है, कब उत्पन्न होता है, कहाँ उत्पन्न होता है, कैसे उत्पन्न होता है, किस बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होता है, किस अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न होता है, कैसे कम उत्पन्न होता है, कैसे ज्यादा उत्पन्न होता है, कैसे उत्पन्न होना बन्द होता है, इत्यादि संभाव्यमान सभी आयामों पर 'कषायपाहुड' में बड़ी ही सूक्ष्मता से विचार किया गया है और इसी में इस ग्रन्थ का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक वैशिष्ट्य निहित है।

भारतीय प्राकृत-वाङ्मय की इस अद्भुत कृति को सविनय प्रणाम!



जयधवला : एक दृष्टि में

- 1- **t ;/koyk dī drk&** (1) आचार्य वीरसेन स्वामी (सन् 770-827 ई.)
(2) आचार्य जिनसेन स्वामी (वीरसेन स्वामी के अन्तेवासी शिष्य)
- 2- **t ;/koyk dk ifjek.k**— 26+34=60 हजार श्लोक-प्रमाण।
- 3- **t ;/koyk dk jpuk dky**— राजा अमोघवर्ष का शासनकाल, फाल्गुन शुक्लादशमी, शक संवत् 759, अष्टाहिनिका महापर्व।
- 4- **t ;/koyk dk jpuk-LFkku**— वाटग्रामपुर (बड़ौदा), गुजरात।
- 5- **t ;/koyk dh Hkk"kk**— प्राकृत-संस्कृतमिश्रित (मणि-प्रवाल शैली)
- 6- **t ;/koyk dk exykpj.k&** आठ गाथाओं में (देखिए संलग्न पृष्ठ)
- 7- **t ;/koyk eī LdU/k rhu**— 1. प्रदेश विभक्ति स्कन्ध
2. संक्रम-उदय-उपयोग स्कन्ध
3. शेष स्कन्ध
- 8- **t ;/koyk eī vf/kdkj**— पन्द्रह (उनके नाम और विषय अलग पृष्ठ पर संलग्न हैं।)
- 9- **t ;/koyk dī idkf'kr Hkkx**— सोलह
- 10- **t ;/koyk dī idk'kd**— भा.दि. जैन संघ, चौरासी, मथुरा, उ.प्र.
- 11- **t ;/koyk dk idk'ku o"k**— सन् 1942-1988 ई. तक
- 12- **t ;/koyk dī lEiknd**— 1. पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
2. पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
3. पण्डित महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य
- 13- **t ;/koyk dk eyk/kj xUFk**— कसायपाहुड (+उसके चूर्णिसूत्र)
- 14- **d l k ; i kg M dī drk**— आचार्यगुणधर स्वामी (विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी)
- 15- **d l k ; i kg M dk ifjek.k**— कुल 233 गाथा (15 अधिकार)
- 16- **d l k ; i kg M dh Hkk"kk**— प्राकृत (शौरसेनी)

- 17- **dlk;ikgM dh vU; Vhdk;**— 1. उच्चारणावृत्ति (उच्चारणाचार्य),
 2. पद्धति (शामकुंडाचार्य),
 3. चूड़ामणि (तुम्बलूराचार्य),
 4. व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेवगुरु)
- 18- **dlk;ikgM pf.k l=k di drk**— आचार्य यतिवृषभ (द्वितीय शताब्दी)
- 19- **dlk;ikgM pf.k l=k dk ifjek.k**— 6 हजार श्लोक-प्रमाण ।
- 20- **dlk;ikgM pf.k l=k dh Hkk"kk**— प्राकृत (शौरसेनी)
- 21- **vkpk;i ;fro"khk Lokeh dh vU; Ñfr;k**— तिलोयपण्णत्ति
- 22- **vkpk;i x.k/kj Lokeh dh vU; Ñfr;k**— अज्ञात
- 23- **vkpk;i ohj l u Lokeh dh vU; Ñfr;k**— धवला, महाधवला (षट्खण्डागम-टीका)
- 24- **vkpk;i ftu l u Lokeh dh vU; Ñfr;k**— पार्श्वाम्बुदय, आदिपुराण ।



जयधवला की विषयवस्तु

vf/kdkj	uke	fo" k ; oLr
1.	पेज्जदोस विभक्ति अधिकार	क्रोधदि चार कषायों के दो भाग राग व द्वेष समझाये हैं।
2.	स्थिति विभक्ति अधिकार	कर्मबन्ध के चार भेदों (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश) में प्रथम दो प्रकृति और स्थिति का विस्तृत विवेचन।
3.	अनुभाग विभक्ति अधिकार	कर्मों की फलदान शक्ति का संज्ञादि विविध अनुयोग द्वारों के द्वारा विस्तृत निरूपण।
4.	स्थितिविभक्ति-झीणाझीण—	कर्मों की स्थिति और उसके उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, स्थित्यन्तिक अधिकार उदययोग्य (झीण), उदय अयोग्य, (अझीण) आदि का निरूपण।
5.	बन्धक अधिकार	बन्ध और संक्रमका विवेचन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश को बन्ध कहते हैं और बँधे हुए कर्मों का यथायोग्य अपने अवान्तर भेदों में बदलने को संक्रमक कहते हैं।
6.	वेदक अधिकार	कर्मों की उदय और उदीरणा रूप दो अवस्थाओं का वर्णन।
7.	उपयोग अधिकार	क्रोधदि कषायों के साथ उपयोग का स्वरूप।
8.	चतुःस्थानाधिकार	कषायों को शक्ति की अपेक्षाचार— चार स्थानों में विभाजित करके समझाया गया है।

- | | | |
|-----|------------------------|---|
| 9. | व्यंजन अधिकार | सभी कषायों के व्यंजन अर्थात् पर्यायवाची शब्दों को बतलाया गया है। |
| 10. | दर्शनमोहोपशमन अधिकार | दर्शनमोहनीय कर्म का उपशमन कब और कैसे होता है, इसे समझाया है। |
| 11. | दर्शनमोहक्षपणाधिकार | दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय कब, कौन जीव, कैसे करता है, इसका निरूपण है। |
| 12. | देशविरत अधिकार | देशविरत अर्थात् संयमा संयमलब्धि का और उसके धरकजीव के परिणामों का सूक्ष्म विवेचन। |
| 13. | संयमलब्धि अधिकार | संयमलब्धि और उसके धरकजीवों का आठ अनुयोग द्वारों के माध्यम से निरूपण है। |
| 14. | चारित्रमोहोपशमनाधिकार | चारित्र मोह का उपशमन कब, कैसे और कितने प्रकार से होता है, इत्यादि विषयों का निरूपण है। साथ ही उपशामक जीव के उत्थान-पतन का भी विवेचन है। |
| 15. | चारित्रामोहक्षपणाधिकार | चारित्रमोह के क्षय का अर्थात् क्षपक श्रेणी से लेकर वीतराग सर्वज्ञ बनने तक का और फिर पूर्व शुद्ध सिद्ध मुक्त अवस्था प्राप्त करने तक का भी विस्तृत निरूपण है। |



पं. दौलतराम कासलीवाल का प्राकृतभाषा के प्रति अनुराग

विक्रम की 18-19वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजस्थानी साहित्यकार, आदिपुराण-पद्मपुराणादि अनेक महाकाय ग्रन्थों के वचनिकाकार और अध्यात्म-बारहखड़ी, विवेक-विलास, श्रीपालचरित आदि अनेक अद्भुत काव्यों के प्रणेता महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल (वि.सं. 1749 से 1829 तक) यद्यपि हिन्दी भाषा के मूर्धन्य लेखक थे, पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनको प्राकृतभाषा से बड़ा भारी अनुराग था, क्योंकि इसके अनेक कारण हैं।

प्रथम तो उन्होंने अपने हिन्दी-काव्य में ऐसे सैंकड़ों शब्दों का सहज-स्वाभाविक प्रयोग किया है जो केवल प्राकृतभाषा में ही प्रयुक्त होते हैं और हिन्दी भाषा में प्रयुक्त नहीं होते। यथा— उयर, जुद्ध, पुरिस, नाह, पुत्ती, पडिमा, जुत्तो, राजपुत्तो, झाण, णाण, णिच्च, णमो, धम्म, णादा, णियभाव, सयल, खंध, खग्ग इत्यादि।

दूसरी बात, उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर यह लिखा है कि देवभाषा की अपेक्षा जनभाषा, देशभाषा या देशीभाषा में साहित्य-रचना करना अधिक उपयोगी है, क्योंकि देवभाषा गंभीर होती है और उसे विरले पंडित ही समझ पाते हैं, किन्तु ‘देसभाषा’ को निःसंदेह बहुत अधिक लोग समझते हैं। यथा—

“देव भाष गंभीर संस्कृत विरला जानै।

पंडित करै बखान अलपमति नाहि बखानै ॥

जो है ग्रन्थ अनूप देस भाषा कै मांही।

वांचे बहुत ही लोक या महै संसै नांही ॥”¹

तीसरी बात, उन्होंने प्राकृतभाषा के दो उत्कृष्ट आगम ग्रंथों— ‘कर्तिकेयानुवेक्षा’ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा) और ‘उवासकाज्झयणं’ (वसुनन्दि श्रावकाचार) की टब्बा-टीका (शब्द-शब्द की स्वतंत्र टीका) लिखी है, जिससे भी उनका प्राकृतभाषा सम्बन्धी प्रबल प्रेम और ज्ञान प्रकट होता है।

1. जीवन्धरस्वामिचरित, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 6

चौथी बात, उन्होंने एक स्थल पर तो लगातार ही लगभग 30 ऐसे छन्दों की रचना की है जो पूरी तरह प्राकृतभाषा के ही प्रतीत होते हैं। उन्हें पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानों उनको लिखते समय कवि भूल ही गया हो कि वह हिन्दी भाषा का काव्य लिख रहा है।

ऐसे वे छन्द यहाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं—

(छंद भुंजगी)

“णमो देव तोकों णमो णाह तोकों । णमो अणाकाई तु ही तारि मोकों ॥
 णमो णाहिणंदा णमो णाह सिद्धा । णमो साहु तिबिहा भजें जाहि णिद्धा ॥
 णमोकार मंतो सरुवा जु तू ही । णमो धीर तोकों तुही जो समूही ॥
 तुही णाणमूला तुही णाणगम्मा । तुही णाणरूवी तुही णाणधम्मा ॥
 तुही देव णाणी तुही णाण झाणी । तु ही है सुणायंद णाहा अझाणी ॥
 तुही णायरा आण मूढा सबै ही । सबै देव णादा सबै तो फबै ही ॥
 तुही णाक णाकेस सांई असांई । तुही णावरूपा सु णावेस सांई ॥
 णहि णाणहीणा तु तोकों सु ध्यावैं । जबै होहि णाणी तुही मांझ आवैं ॥
 तुही णाणराया तुही णाणकाया । तुही णाणदाया तुही णाणभाया ॥
 तुही णाणणादा सबै कम्मघादा । तुही णाणभावी अणादीस आदा ॥

(दीहा)

णियभावइ जो रमि रहइ, आण विभाव मुएवि ।
 सो पावइ जिणधम्म ठिई, सयल अभाव चएवि ॥
 णिच्चणिगोय अणंत बहु, णादि अणंत अछेव ।
 इयरणिगोय विदीय मुणि, भासइ जिण जु अभेव ॥
 जम्मण मरण अणंत किउ, संपय लय जिणसार ।
 णियदउ आवइ मरण जिय, णियतच्चे लव लाय ॥
 छंडिवि सयल वियार तुह, उर धरि जिण जगणाव ।
 णियमादि सु उर धरि जिय, णियमणाह भड धीर ॥
 णमि णमि णाह महंत सो, परमाणंद अभीर ।
 णिच्चाणिच्च सरुव मुणि, णादा णाणसहाव ॥
 णियसहाव झायेवि जिय, परिहरि सयल विभाव ।
 णीय जु धरि अणीय मुय, णीचसंग परिहेय ॥
 णीवे बोयें अंवपफल, मूढ मणइ मि लेय ।
 पुति पुति जिण की धरि जिय, युति जिण की धरि धीर ॥

णवरि जिणिंदह झाय सया, जिण सम अवर ण वीर ।
 णूतण देव पुरातणउ, अणुवम देव अणाय ॥
 णेयंदरछेदी पहु, णेयणाह अतिभाय ।
 णेयाकार सु णाण जसु, णाणाकार सु सो जि ॥
 णाणावरणी वज्जियउ, णाणाभाव जु जो जि ।
 णेमिधम्मरहचक्क पहु, णेमिणाह भगवंत ॥
 जमणियमादि अघर सो, णेयसामि णयवंत ।
 अवर सयल णेयावली, णाणरूव णय होइ ॥
 णाण णेय जुगवंत जो, णियणेय जु णि सोइ ।
 णेदा मोरकह मण्ण जे, णेय सयल तसु मांहि ॥
 णेयें अंदरि सो वसइ, णेयमई परणांहि ।
 णेय ण जम्हि णेय सो, णिय णिय भाव ण छंड ॥
 णादा णेय सबंध मुणि, णादि अणंत अखंड ।
 णैकरूव सो देव मुणि, णैकरूव मुणि णेय ॥
 णैकभाव एयत्त मुणि, णैकाकार अहेय ।
 णो जीवस्स सहाव जिय, दव्व विभाव विकम्म ॥
 णोकम्म वि परभाव मुणि, णाण सुचेयण धम्म ।
 णो इंदिय णो मण हवई, णो जीवस्स य काय ॥
 णो सद्ध वि बंध वि हवइ, सुहम ण थूल ण छाया ।
 णो वण्ण वि णो गंध रस, णो फास वि संठाण ॥
 एक्क वि पुण्णल भेद जिय, तेरो होय ण ठांण ।
 णो काय ण रिस लोह मउ, छल पाखंड ण कोइ ॥
 मोहहँ केरउ णांव ण वि, णो परपंच वि होइ ।
 णोवम णिरुवम णाणतण, तू अरहंत सरीस ॥
 सिद्ध समान सु तू भणिउं, छंडिवि कम्म अणीस ।
 णौविक सम जिणदेव मुणि, णौका मुणि जिणधम्म ॥
 इह णौका वह णौकिको, पार करइ विणु धम्म ।
 णंदउ साहु महंत गण, णंदउ जिणमत सेव ॥
 णंदीसर वउ णंदऊ, णंदउ णंदण णाहि ।
 जेण पयासिउ तत्त पर, धम्मचक्क रह णहि ॥
 णंद सु सिद्धारथ तणज, वच्छमाण जिणदेव ।
 णंदउ सयलवि तित्थधर, णंदउ केवलसेव ॥
 जोय वि णंदीसर वि बुह, चउरणिकाय जु देव ।
 बावण देवल पूजहु, तिणि वारा जिणसेव ॥''

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राकृतभाषा के विशेष ज्ञान और प्रबल अनुराग के बिना ऐसी काव्य-रचना संभव नहीं है।

यह भी उल्लेखनीय है कि ये उत्कृष्ट छन्द महाकवि पंडित दौलतराम कासलीवाल ने अपने अत्यन्त विशाल काव्यग्रंथ 'अध्यात्म-बारहखड़ी' में आज से लगभग 270 वर्ष पूर्व (वि.सं. 1800 में) लिखे थे, किन्तु दुर्भाग्य से अद्यावधि अप्रकाशित हैं।

पं. दौलतराम कासलीवाल की भाँति हिन्दी के प्रायः सभी मध्यकालीन जैन कवि प्राकृतभाषा से अत्यधिक अनुराग रखते थे, क्योंकि वे प्राकृतभाषा के ग्रन्थों का न केवल प्रतिदिन स्वाध्याय करते थे, अपितु उनको यथावत् कंठस्थ भी करते थे और फिर उसी को अपने हिन्दी-काव्य में प्रस्तुत करने की कुशल चेष्टा करते थे।

आधुनिक जैन ग्रन्थकारों, लेखकों और कवियों को भी इससे कुछ प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए; ताकि प्राकृत-आगमों की कुछ सेवा हो सके।



खारवेल-शिलालेख में निहित दार्शनिक तत्त्व

कलिंग-चक्रवर्ती, महामेघवाहन सम्राट् खारवेल के हाथी-गुफा-शिलालेख का अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है, किन्तु यहाँ हम उसमें निहित दार्शनिक तत्त्वों के अन्वेषण का एक संक्षिप्त प्रयास करना चाहते हैं।

शिलालेखों का अध्ययन अधिकांशतः इतिहास एवं राजनीति की दृष्टि से किया जाता है, किन्तु यहाँ हमारी भावना है कि दर्शनशास्त्र की दृष्टि से भी उनके अध्ययन का अभियान चलना चाहिए। स्व-पर-कल्याण-हेतु यह दृष्टि कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इतिहास और राजनीति वाली दृष्टि कभी-कभी कषाय उत्पन्न करने लगती है।

वैसे भी मैं दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी हूँ और हर विषय को उसी दृष्टि से देखने का अभ्यास हो गया है, अतः यहाँ भी मैंने सम्राट् खारवेल के सुप्रसिद्ध शिलालेख को दार्शनिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

सम्राट् खारवेल के इस 17 पंक्तियों के शिलालेख में मुझे दार्शनिक दृष्टि से निम्नलिखित सात पंक्तियाँ और उनमें प्रयुक्त निम्नलिखित शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए हैं—

- पंक्ति-संख्या-1 नमो अरहन्तानं नमो सवसिद्धानं.....
पंक्ति-संख्या-9 अरहतो
पंक्ति-संख्या-12 नंदराजनीतं च कलिंगजिनं संनिवेसं.....
पंक्ति-संख्या-14 पूजावरतउवास खारवेलसिरिना जीवदेहसिरिका परिखिता।
पंक्ति-संख्या-15 समण सुविहितानं च सत दिसानं जानिनं तपसि इसिनं संधियनं
पंक्ति-संख्या-16 चोयठि अंग सतिकं तुरियं उपादयति.... पसंतो सुनंतो अनुभवंतो
पंक्ति-संख्या-17 सबपाखंडपूजको सबदेवायतनसंकारकारको.....।

इनमें भी पंक्ति-संख्या 1 दार्शनिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। इसमें जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध महामन्त्र 'णमोकार' के प्रारम्भिक दो पद स्पष्ट रूप से लिखे हुए हैं, जिनमें अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया गया

है। अरिहन्त और सिद्ध— इन दो शब्दों में सम्पूर्ण जैनदर्शन समाहित हो जाता है।
आचार्य कुन्दकुन्द ने तो 'अरिहन्त' के विषय में यहाँ तक लिखा है कि—

“जो जाणदि अरिहन्तं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥”¹

vFk& जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त को जानता है वह आत्मा को भी जान लेता है और उसका मोह निश्चय से नष्ट हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'अरिहन्त' जैनदर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है और उसके अन्दर जैनदर्शन की समूची अवधारणा समाहित हो जाती है। यही कारण है कि जैनदर्शन को 'अरिहन्त-दर्शन' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

'अरहन्त' शब्द का प्रयोग इस शिलालेख की पंक्ति 4, 9, 15 में भी हुआ है। 'अरहन्त' की भाँति 'सिद्ध' शब्द भी जैनदर्शन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण शब्द है। घातिकर्म रहित सशरीरी परमात्मा को 'अरहन्त' और सर्व कर्म रहित अशरीरी परमात्मा को 'सिद्ध' कहते हैं। अरहन्त जीवनमुक्त हैं और सिद्ध देहमुक्त हैं, अतः 'सिद्ध' शब्द में मोक्ष की सम्पूर्ण अवधारणा समाहित हो जाती है।

यदि हम 'अरिहन्त' और 'सिद्ध'— इन दो शब्दों का ही भलीभाँति सर्वांग अध्ययन करें तो सम्भवतः दर्शनशास्त्र की सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा स्पष्ट हो जाती है।

तत्त्वमीमांसा ही नहीं, आचारमीमांसा की दृष्टि से भी खारवेल का यह शिलालेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। इसकी पंक्ति-संख्या 14 में पाप, व्रत, पूजा और उपवास— इन 4 आचारशास्त्रीय शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। ये सब आचारशास्त्र के ही प्रमुख परिभाषिक शब्द हैं, जिन्हें जैनदर्शन के रत्नकरण्ड श्रावकाचार (आचार्य समन्तभद्र), पुरुषार्थसिद्धयुपाय (आचार्य अमृतचन्द्र) आदि अनेक आचार-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक समझाया गया है। आचार्य उमास्वामी के 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी इसे इसप्रकार कहा है कि—

‘हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।’²

जैनाचारशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म और धर्मायतनों की रक्षा और प्रभावना का भी उपदेश पाया जाता है। खारवेल-शिलालेख की पंक्ति-संख्या 12-13 में आया हुआ कलिंग-जिन मूर्ति की रक्षा का प्रसंग उसी उपदेश का परिपालन सिद्ध होता है। सम्राट् खारवेल ने उसी उपदेश से प्रेरित होकर कलिंग-जिन की मूर्ति को राजा नन्द से वापिस लाकर उसे गगनचुंबी मंदिर बनाकर उसमें स्थापित/प्रतिष्ठापित किया। मंदिर बनाने वाले कारीगरों को बड़ी जागीरें भी प्रदान की।

¹ आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 80

² आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 6/1

जैनाचार-मीमांसा दो रूपों में विभाजित है— गृहस्थाचार और श्रमणाचार। खारवेल-शिलालेख में न केवल उक्त प्रकार से गृहस्थाचार का चित्रण है, अपितु थोड़ा बहुत श्रमणाचार का भी चित्रण उसमें उपलब्ध होता है। पंक्ति-संख्या 15 में ‘श्रमण’ (समण) शब्द का तो स्पष्ट प्रयोग हुआ ही है, किन्तु ‘ज्ञानी’ (जानिन), ‘तपस्वी’ (तपसि), ‘ऋषि’ (इसिन), ‘संघी’ (संघियन) आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो श्रमणों के ही विविध रूप या प्रकार प्रतीत होते हैं।

श्रमणों के नाम या प्रकार जैन-ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाए गये हैं—

“समणोत्ति संजदोत्ति य रिंसी मुणि साधुत्ति वीदरागो त्ति ।

णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतो त्ति ॥”³

vFk& श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदत, दंत, यति— ये सब साधु के नाम हैं।

जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा के अतिरिक्त इस शिलालेख में जैन-अध्यात्म का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी पंक्ति-संख्या 14 में जीव और देह के भेद-विज्ञान (परीक्षा) का कथन किया गया है जो जैन-अध्यात्म का केन्द्रिय या सारभूत प्रतिपाद्य है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसारादि ग्रन्थों में इस भेद-विज्ञान के गीत मुक्त कण्ठ से गाये हैं। आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक लिखते हैं—

“भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धाः ये किल केचन ॥”⁴

vFk& आजतक जितने भी जीव सिद्ध हुये हैं, वे भेद-विज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं और जितने भी जीव संसार में बद्ध हैं वे भेद-विज्ञान के अभाव से ही बँधे हुये हैं।

इसीप्रकार पंक्ति संख्या 16 में कहा गया है कि मैंने द्वादशांग के सारभूत आत्मा का श्रवण-मनन-अनुभवन किया है। यह आत्मदर्शन या आत्मानुभूति का महत्त्वपूर्ण विषय जैन-अध्यात्मविद्या का सार है। यथा—

“जो पस्सदि अप्पाणं.....पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।”⁵

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्राट् खारवेल के इस शिलालेख में जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा और अध्यात्मविद्या के मूल सूत्र सन्निहित हैं जिन्हें भलीभाँति समझकर स्व-पर-कल्याण का महान् उपक्रम किया जा सकता है।



³ आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, गाथा 886

⁴ आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, कलश 131

⁵ आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार 15

प्राकृतभाषा में लोरी

अरिहंतो तुह जणगो, जणणी सुहदा य तुज्झ जिणवाणी ।
हे मम बंधु ! जाणदु, अरिहंतो होदुं सुगमं त्ति ॥ 1 ॥
सिद्धो सुद्धो जणगो, जणणी सुहदा य तुज्झ जिणवाणी ।
हे मम बंधु ! जाणदु, सिद्धो पुण होदुं सुगमं त्ति ॥ 2 ॥
आइरिओ तुह जणगो, जणणी सुहदा य तुज्झ जिणवाणी ।
हे मम बंधु ! जाणदु, आयरिओ होदुं सुगमं त्ति ॥ 3 ॥
उवझाओ तुह जणगो, जणणी सुहदा य तुज्झ जिणवाणी ।
हे मम बंधु ! जाणदु, उवझाओ होदुं सुगमं त्ति ॥ 4 ॥
मुणिराओ तुह जणगो, जणणी सुहदा य तुज्झ जिणवाणी ।
हे मम बंधु ! जाणदु, मुणिराओ होदुं सुगमं त्ति ॥ 5 ॥

vFk& (माँ अपने बालक को लोरी सुनाते हुए पालने में ही उत्तम संस्कार दे रही है कि हे मेरे प्यारे पुत्र ! अरिहंत देव तेरे पिता हैं और सुख देने वाली जिनवाणी तेरी माता है। तथा हे मेरे भाई ! यह जान लो, अरिहंत होना बहुत सरल है, तेरे आत्मा का स्वभाव है ॥ 1 ॥

शुद्ध सिद्ध परमात्मा तेरे पिता हैं और सुख देने वाली जिनवाणी तेरी माता है। हे मेरे भाई ! यह जान लो, सिद्ध होना भी बहुत सरल है, आत्मा का स्वभाव ही है ॥ 2 ॥

आचार्य परमेष्ठी तेरे पिता हैं और सुख देने वाली जिनवाणी तेरी माता है। हे मेरे भाई ! यह जान लो, आचार्य होना भी बहुत सरल है, आत्मा का सहज-स्वभाव है ॥ 3 ॥

उपाध्याय परमेष्ठी तेरे पिता हैं और सुख देने वाली जिनवाणी तेरी माता है। हे मेरे भाई ! यह जान लो, उपाध्याय होना भी बहुत सरल है, आत्मा का सहज-स्वभाव है ॥ 4 ॥

मुनिराज (साधु परमेष्ठी) तेरे पिता हैं और सुख देने वाली जिनवाणी तेरी माता है। हे मेरे भाई ! यह जान लो, मुनिराज होना भी बहुत सरल है, आत्मा का सहज-स्वभाव है ॥ 5 ॥



आरदी बाहुबली सामिणो

जय बाहुबली भगवो, सामि जय बाहुबली भगवो ।
आदबली जय णाणबली जय, झाणबली भगवो॥ टेक ॥
रिसहदेवसुद तुम्हे आसी, माद सुणंदा जी
सुदतियबंधुअण्ण परिपुरजण, सव्वं भिण्ण गिणो
तुह देहादो भिण्ण णाणमय, चेदणतच्च मणो
रागरोस परिहरिदा, तम्हा पूज्ज अहो
दिट्ठीमल्लजलजुद्धे, भरदेस्सर विजिदो
धम्मजुद्ध किय रागरोस पुण, तुम्हेहि विजिदा
कम्मे सूरा धम्मे सूरा, मुणिदिक्खा धरिआ
धम्मचक्की मुणि घोरतवेण हि, केवलणाण जिणो
सव्वकम्मरय चूरिय, पढमं मोक्ख गओ
सव्वसुरासुरवंदिद, तिहुवणतिलय अहो
गोम्मटेस पडिमा पहु तुज्झ, चामुंडराय करी
भावभत्तिगुण धारिय, अम्हे णमण करी
विस्ससंति हो आदसंति हो, हे पहु बाहुबली
बोहिलाह हो, सुगइगमण हो, अम्हे सरण गही

vFk& बाहुबली भगवान् की जय हो, बाहुबली स्वामी की जय हो। वे वस्तुतः आत्मबली हैं, ज्ञानबली हैं और ध्यानबली हैं। उनकी जय हो।

हे भगवान् बाहुबली! आप प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र हो, आपकी माता का नाम सुनन्दा है, परन्तु वस्तुतः आपने माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि सर्व परिजन-पुरजनों से स्वयं को अलग कर लिया है और स्वयं को देहादि से भी भिन्न ज्ञानमय चैतन्य तत्त्व समझकर समस्त रागद्वेषादि भावों का त्याग कर दिया, इसलिए आप पूजनीय माने जाते हैं।

हे बाहुबली! आपने दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध में भरतचक्रवर्ती को जीता था और बाद में धर्मयुद्ध में भी अपने समस्त रागद्वेषादि भावों को भी जीत लिया था। आप 'कम्मे सूरा' ही नहीं, 'धम्मे सूरा' भी हो गये। मुनिदीक्षा लेकर

धर्मचक्रवर्ती बन गये। घोर तप करके आपने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया।

हे भगवन् बाहुबली! इसके बाद आपने सर्व शेषकर्मों को भी क्षय करके मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। आप इस युग के सर्वप्रथम मोक्षगामी बन गये। समस्त सुरासुरेन्द्रों ने आपकी वन्दना की ओर आप त्रिभुवन-तिलक हो गए।

हे प्रभो! आपकी जो विशाल अनुपम प्रतिमा महाराज चामुंडराय ने बनवाई है उसे हम भावभक्ति से परिपूर्ण होकर प्रणाम करते हैं और कामना करते हैं कि सम्पूर्ण विश्व में शान्ति हो, हमें भी आत्मशान्ति मिले, बोधिलाभ हो और समाधिपूर्वक सुगतिगमन हो। ❖❖

बाहुबलि-त्थोत्तं

णमामि भावणासहिदं, रिसहदेव जिणेस्सरं।
करेमि बाहुबलि-त्थोत्तं, सव्वकज्जस्स सिद्धिण्ण।
हे रिसहपुत्त पडु बाहुबली, सुणंदा देवि य मादु भली
भरदेस्सर चक्की बंधु तुह, बहिणी बंधी सुंदरी य सुणह
हे तक्खसिला णिव बाहुबली, हे पोयणपुर णिव बाहुबली
जय कम्मे सूरा बाहुबली, जय धम्मे सूरा बाहुबली
अहिमाणमेरु हे बाहुबली, चक्कीमयभंजण बाहुबली
हे दिट्ठीजुद्ध जय बाहुबली, हे णीरजुद्ध जय बाहुबली
हे मल्लजुद्ध जय बाहुबली, पुण धम्मजुद्ध जय बाहुबली
हे जगजेदा पडु बाहुबली, पुण आदविजेदा बाहुबली
णिस्सल्लो मल्लो बाहुबली, देहादिविरत्तो बाहुबली
वेरग्गामुत्ति जय बाहुबली, जय महातवस्सी बाहुबली
जय तिहुवणतिलयं बाहुबली, जगदस्स अहारो बाहुबली
जय संतिकंतिजुद बाहुबली, जय संतिकंतिपद बाहुबली
बाहुबली तुह णिच्छ बली, लोए ण हि अण्णो को वि बली
तुह बाहुबली ण हि आदबली, तुह णाणबली तुह झाणबली
तुह लोए मंगल बाहुबली, तुह लोए उत्तम बाहुबली
तुह लोए सरणं बाहुबली, पणमउं चरणं तुह बाहुबली
तुह णंतबली णिग्गंथबली, झाणणंतर केवली सु बली
जय सिद्धसिला णिव बाहुबली, जय जय जय जय जय बाहुबली
हं पणमउं पद तुह बाहुबली, हं पि होस्सामि बाहुबली
जो झायदि मणसा बाहुबली, सो होस्सदि णिच्छय बाहुबली

इदं बाहुबलि-त्थोत्तं, जो पइदिणं पढिज्जदि।
विणस्सदि सव्वदुक्खाइं, सव्वसुक्खं य पावदि ॥

